रविंद्रनाथ टैगोर

की श्रेष्ठ कहानियां



दो शब्द

रवीन्द्रनाथ ठाकुर विश्व के महानतम साहित्यकारों में से थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के कलाकार थे। श्रेष्ठ कवि के अतिरिक्त वे एक सशक्त, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, निबन्धकार एवं समीक्षक—सभी कुछ थे।

यदि कला की दृष्टि से देखा जाए, तो रवीन्द्र के गीति-काव्य के बाद उनकी कहानियों का नम्बर आता है। बंगला-साहित्य में तो छोटी कहानियों का सूत्रपात करनेवाले भी वे ही हैं। एक समालोचक ने इनकी कहानियों के सम्बन्ध में लिखा है कि रवीन्द्रनाथ का काव्य चाहे चिरजीवी हो या न हो, पर ये कहानियां उन्हें निश्चित रूप से अमर कीर्ति देंगी। इस उक्ति से रवीन्द्र की प्रभावक्षमता अथवा महान आकर्षण का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

रवीन्द्र की अनेक कहानियां ऐसी हैं जिन्होंने कला, शिल्प, शब्द-सौन्दर्य, गठन-कौशल, भाव-पटुता एवं अभिव्यक्ति की सरसता आदि की दृष्टि से भूरि-भूरि प्रशंसा एवं अत्यन्त लोकप्रियता अर्जित की है।

डॉ० श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय के अनुसार, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कहानी-साहित्य को मुख्यतः इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है :

(१) प्रेम (उदाहरणतः, 'एक रात', 'दृष्टिदान', 'दुराशा', 'महामाया' आदि कहानियां);

(२) सामाजिक जीवन में सम्पर्क की विचित्रता ('काबुलीवाला', 'पोस्टमास्टर', 'लल्ला बाबू की वापसी', आदि कहानियां);

(३) प्रकृति के साथ सम्पर्क ('सुभा', 'अतिथि', 'समाप्ति', आदि कहानियां); और

(४) अति प्राकृत का सम्पर्क ('निशीथ में', 'कंकाल', 'क्षुधित पाषाण' आदि कहानियां) आदि।

इनमें से अधिकांश कहानियां हमारे संकलन में पढ़ने को मिलेंगी।

पॉकेट बुक्स के अपने पाठकों के लिए रवीन्द्र की श्रेष्ठ कहानियों का यह संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें उत्कृष्टता के साथ-साथ विविधता का भी ध्यान रखा गया है।

आशा है, इस संग्रह के माध्यम से हमारे पाठकों का स्वस्थ मनोरंजन तो होगा ही, साथ ही वे रवीन्द्र के कहानी-साहित्य में बिखरी हुई विभूतियों की भी एक झलक पा सकेंगे। रवीन्द्र की इन कहानियों के अनुवादक हैं—बंगला-साहित्य के विद्वान श्री धन्यकुमार जैन।

रवीन्द्र की श्रेष्ठ कहानियां

रवीन्द्र की श्रेष्ठ कहानियां

एक रात

सुरबाला के संग मैं एकसाथ पाठशाला गया हूं; और आंख-मिचौनी खेल में भी उसका साथी रहा हूं। मैं अक्सर उसके घर जाया करता था। सुरबाला की मां मुझे बहुत प्यार करती थीं। किसी-किसी दिन वे हम दोनों को एकसाथ खड़ा करके निरख-निरखकर देखतीं और आपसी बातचीत में कहतीं, "देखो, दोनों की जोड़ी कैसी अच्छी लगती है!"

तब मैं छोटा ज़रूर था, पर उनकी इस बात के मानी समझने में मैंने कोई गलती की हो ऐसा नहीं जान पड़ता। कारण, बचपन ही से मेरे मन में यह धारणा जमकर बैठ गई थी कि सुरबाला पर औरों की बनिस्बत मेरा कुछ विशेष अधिकार है। उस विशेषाधिकार के मद में आकर मैंने उसपर रोब तो जमाया ही है, और अन्याय भी किया हो तो आश्चर्य नहीं; किन्तु सुरबाला की तरफ से इतना तो मुझे मानना ही पड़ेगा कि उसने काफी सहनशील बनकर मेरी सब तरह की आज्ञाओं का यथासम्भव पालन किया है, और न करने पर मैंने जो सज़ा दी है, उसे मंज़ूर भी किया है। मुहल्ले में उसके रूप की सब तारीफ किया करते थे, किन्तु मुझ जैसे आवारा और उद्दण्ड लड़के की निगाह में उस सुन्दरता की कोई खास कीमत नहीं थी। मैं समझता था कि सुरबाला सिर्फ मेरा प्रभुत्व मानने के लिए ही अपने बाप के घर पैदा हुई है, लिहाज़ा मेरे लिए वह खास तौर से उपेक्षा की चीज़ है।

मेरे पिता गांव के ज़मींदार चौधरियों के यहां नायब थे। उनकी इच्छा थी कि लिखाई में मेरा हाथ सध जाने पर मुझे वे ज़मींदारी

सरिश्ते का काम सिखाकर कहीं पर गुमाश्ते के काम पर लगा देंगे। पर मैं उनकी इस बात से मन ही मन नाराज़ था। हमारे मुहल्ले का नीलरतन जैसे कलकत्ता भागकर वहां पढ़-लिखकर कलेक्टर साहब के नीचे नाज़िर बन गया है, मेरे जीवन का लक्ष्य भी लगभग वैसा ही, यानी बहुत ऊंचा था। अगर कलेक्टर का नाज़िर न हो सका तो कम से कम दूसरी किसी अदालत का हेड क्लर्क तो बनूंगा ही, यह मैंने मन ही मन तय कर रखा था।

मैं बचपन से ही देखता आया हूं कि मेरे बाप उक्त अदालत-जीवियों का बहुत ज़्यादा सम्मान करते थे। नाना उपलक्ष्यों में मछली, साग-तरकारी, रुपये-पैसे आदि से उनकी पूजार्चना की जाती थी, वह भी मुझसे छिपा नहीं था। इसलिए अदालत के छोटे से छोटे कर्मचारी, यहां तक कि सिपाही-पियादों तक को अपने मन में मैंने खूब सम्मान का आसन दे रखा था। असल में ये हमारे देश के पूज्य देवता हैं, 'तैंतीस कोटि' के छोटे-मोटे नये-नये संस्करण। ज़मीन-जायदाद-सम्बन्धी सिद्धि-लाभ के लिए तो स्वयं सिद्धिदाता गणेश से भी इनपर लोगों का आन्त-रिक भरोसा बहुत ज़्यादा है। इसीलिए पहले गणेशजी का जो कुछ हक था, आजकल वह हक इन्हींको मिला करता है।

मैं भी नीलरतन के दृष्टान्त से उत्साहित होकर एक दिन मौका पाकर कलकत्ता भाग आया। पहले गांव के एक जान-पहचानवाले के यहां ठहरा। उसके बाद धीरे-धीरे बाप से भी पढ़ाई के लिए कुछ-कुछ मदद मिलने लगी, और पढ़ाई नियम से होने लगी।

इसके अलावा मैं सभा-समितियों में भी शामिल हुआ करता था। इस विषय में मैं निस्सन्देह हो गया था कि देश के लिए सहसा प्राण विसर्जन करने की बड़ी सख्त ज़रूरत है। किन्तु किस तरह यह दुःसाध्य कार्य हो सकता है, यह मुझे नहीं मालूम था, और न कोई दृष्टान्त ही दिखाता था।

मगर फिर भी उत्साह में कोई कमी नहीं थी। हम लोग गंवई-गांव के लड़के थे। कलकत्ता के लड़कों की तरह हम सब बातों को हंसी में उड़ाना नहीं जानते थे, और इसीलिए शायद हमारी देशभक्ति अत्यन्त दृढ़ थी। हमारी सभा के संचालकगण व्याख्यान दिया करते थे, और हम लोग चन्दे का खाता लेकर बिना खाए-पीए यों ही घोरी-दुपहरी में घर-घर भीख मांगते फिरते थे। सड़क के किनारे खड़े

होकर विज्ञापन बांटा करते, सभा की जगह में जाकर बेंच-चौकी वगैरह लगाते, और सभापति के नाम पर अगर कोई कुछ बात कह देता तो उससे कमर कसके लड़ने को आमादा हो जाते।

शहर के लड़के हमारे इन लक्षणों को देखकर हम लोगों को गांव के 'गंवार' कहने लगे थे।

कलकत्ता आया था नाजिर या सरिश्तेदार बनने, पर मेज़िनी गैरिबाल्डी बनने की तैयारियां करने लगा।

इतने में मेरे पिता और सुरबाला के पिता दोनों ही एकमत होकर सुरबाला के साथ मेरे ब्याह की तैयारियां करने लगे।

मैं पन्द्रह वर्ष की उमर में कलकत्ता भाग आया था, और तब सुरबाला की उमर थी कुल आठ साल की। अब मैं अठारह साल का हूं। पिता का मत है कि मेरी ब्याह की उमर क्रमशः बीतती जा रही है, पर इधर मैंने मन ही मन प्रतिज्ञा कर ली थी कि 'आजीवन मैं ब्याह नहीं करूंगा और स्वदेश के लिए मर मिटूंगा।' पिता से मैंने कह दिया कि 'पढ़ाई खतम किए बगैर मैं ब्याह नहीं करूंगा।'

दो ही चार महीने में मुझे खबर मिली कि वकील रामलोचन बाबू के साथ सुरबाला का ब्याह हो गया। पतित भारत के लिए मैं तब चन्दा-वसूली के काम में मशगूल था, लिहाज़ा यह खबर मुझे अत्यन्त तुच्छ जान पड़ी।

एण्ट्रेन्स पास कर चुका। फर्स्ट ईयर आर्ट्स की परीक्षा देनेवाला था। इतने में पिता की मृत्यु हो गई। घर में सिर्फ मैं ही अकेला न था, माता और दो बहनें भी थीं। इसलिए काम-काज की टोह में घूमना पड़ा। बहुत कोशिश करने के बाद मुझे नोआखाली-विभाग के एक स्कूल की सेकण्ड मास्टरी मिली।

सोचा कि अपने योग्य काम मिल गया, अच्छा ही हुआ। उपदेश और उत्साह दे-देकर हरएक विद्यार्थी को भावी भारत का सेनापति बना दूंगा।

काम शुरू कर दिया। देखा कि भावी भारत की अपेक्षा वहां आसन्न परीक्षा की हड़बड़ी ही बहुत ज़्यादा है। छात्रों को 'ग्रामर' और 'एलजबरा' के अलावा बाहर की और कोई बात समझाने से हेड-मास्टर साहब नाराज़ होते हैं। और तब, दो ही महीने के अन्दर मेरा

उत्साह ठण्डा पड़ गया।

हम जैसे प्रतिभाहीन लोग घर बैठे अनेक तरह की कल्पनाएं किया करते हैं, किन्तु अन्त में कार्यक्षेत्र में उतरने के बाद उनके कंधे पर जब हल रखा जाता है और पीछे से पूंछ मरोड़ी जाती है तब वे सहिष्णुता के साथ सिर झुकाए हुए दिन-भर खेत जोतने का काम करते हैं, और उसके एवज़ में शाम को जो भरपेट भूसा मिल जाता है उसीमें वे सन्तुष्ट रहते हैं। फिर उनमें उछल-कूद और उत्साह कुछ भी नहीं रह जाता।

उन दिनों आग लगने की आशंका थी, इसलिए एक मास्टर को स्कूल में ही रहना पड़ता था। मैं छड़ीदा आदमी था, लिहाज़ा मेरे ही ऊपर यह भार आ पड़ा। स्कूल से सटी हुई एक छोटी-सी झोंपड़ी थी, उसीमें मैं रहने लगा।

स्कूल कस्बे से बाहर कुछ दूरी पर था, एक बड़े तालाब के किनारे। चारों तरफ सुपारी, नारियल और मदार के पेड़ थे, और स्कूल से बिलकुल सटे हुए दो बड़े-बड़े नीम के पेड़ थे, जिनकी छाया से स्कूल के मास्टर और छात्र काफी फायदा उठाया करते थे।

एक बात का उल्लेख करना भूल गया, और अब तक उसे मैंउल्लेख-योग्य समझता भी न था। यहां के सरकारी वकील रामलोचन राय का मकान हमारे स्कूल के नजदीक ही था। और मुझे यह मालूम था कि उनके साथ उनकी स्त्री, मेरी बाल्य-सखी, सुरबाला भी रहती है।

रामलोचन बाबू के साथ मेरी जान-पहचान हो गई। सुरबाला के साथ मेरी बचपन की जान-पहचान थी, यह बात रामलोचन बाबू को मालूम थी या नहीं, मैं नहीं कह सकता। मैंने भी उनसे इस नये परिचय में इस सम्बन्ध में कोई बात कहना ठीक नहीं समझा। साथ ही यह बात भी मेरे मन में अच्छी तरह उदय नहीं हुई कि सुरबाला का किसी दिन मेरे जीवन के साथ कोई विशेष सम्बन्ध था।

एक दिन, छुट्टी के रोज़, मैं रामलोचन बाबू के घर पर उनसे मिलने गया। याद नहीं, किस विषय में बात चल रही थी, शायद वर्तमान भारत की दुरवस्था के सम्बन्ध में कुछ चर्चा कर रहे थे। वे इस विषय में विशेष चिन्तित और व्याकुल हों सो बात नहीं, किन्तु यह विषय ऐसा है कि तम्बाकू पीते-पीते इस बारे में दो-एक घण्टा अनर्गल

मैं भी बिना कुछ कहे-सुने चुपके से अपने घर लौट आया।

सोचने लगा, मैं नाज़िर भी न हुआ, सरिश्तेदार भी न हुआ, गैरिबाल्डी भी न हो सका—मैं टूटे-फूटे स्कूल का सेकण्ड मास्टर हूं। मेरे इस सम्पूर्ण जीवन में सिर्फ क्षण-भर के लिए एक अनन्त रात का उदय हुआ था, मेरी परमायु के सम्पूर्ण दिनों में सिर्फ यही 'एक रात' मेरे इस तुच्छ जीवन की एकमात्र चरम सार्थकता है।

[मूल रचना : जेठ, १९४९]

लल्ला बाबू की वापसी

रायचरण जब पहले-पहल नौकरी पर बहाल हुआ तब उसकी उमर थी कुल बारह साल की। जैसोर ज़िले में उसका घर था। लम्बे-लम्बे बाल, बड़ी-बड़ी आंखें और काली-चिकनी छरहरी देह थी उसकी। वह जाति का कायस्थ था, और उसके मालिक भी कायस्थ थे। मालिक के घर साल-भर का एक बच्चा था, उसे खिलाना-सम्हालना और घुमाना-फिराना, यही उसकी नौकरी थी।

धीरे-धीरे उस बच्चे ने रायचरण की गोद छोड़कर कालेज में और आखिर में कालेज छोड़कर मुन्सिफी में कदम रखा। और रायचरण अब भी उनके यहां नौकर है। अब उसका एक मालिक और बढ़ गया है, घर में 'बहूजी' आ गई हैं। इसलिए अनुकूल बाबू पर रायचरण का पहले जितना अधिकार था उसका अधिकांश नवीन गृहिणी के हाथ लग गया है।

किन्तु मालकिन ने जैसे रायचरण का पहले का हक कुछ घटा दिया है वैसे ही एक नया हक देकर उसकी बहुत कुछ पूर्ति भी कर दी है। थोड़े ही दिन हुए, अनुकूल के एक लड़का पैदा हुआ है; और रायचरण ने उसे सिर्फ अपनी कोशिश और मेहनत से ज़रूरत से ज़्यादा अपना लिया है।

बच्चे को वह ऐसे उत्साह के साथ झूला झुलाता है, ऐसी चतुराई से उसके दोनों हाथ पकड़कर ऊपर को उछालता है, जवाब की कोई आशा न रखकर उससे ऐसे-ऐसे बेमतलब के सवाल पूछता रहता है और उसके मुंह के पास अपना सिर ले जाकर ऐसे हिलाया करता है कि वह नन्हा-सा आनुकौलव रायचरण को देखते ही मारे खुशी के फूलकर कुप्पा हो जाता है।

वह नन्हा-सा बच्चा जब पेट और घुटनों के बल चलकर चौखट पार होता और कोई पकड़ने आता तो खिलखिलाकर हंसता हुआ जल्दी से निरापद स्थान में दुबकने की कोशिश करता, तब रायचरण उसकी असाधारण चतुरता और विचार-बुद्धि को देखकर आश्चर्य में पड़ जाता। उसकी मां के पास जाकर वह बड़े गर्व और आश्चर्य के साथ कहता, "बहूजी, तुम्हारा यह लड़का बड़ा होने पर 'जज' होगा, पांच हज्जार रुपये पाया करेगा!"

संसार में और भी कोई मानव-सन्तान इस उमर में चौखट पार करने आदि ऐसी-ऐसी चतुराई का परिचय दे सकती है, यह बात रायचरण के कयास के बाहर थी। उसका खयाल था कि सिर्फ भावी जजों के लिए ही ऐसी बातें सम्भव हैं, औरों के लिए नहीं।

आखिर बच्चे ने जब डगमगाते हुए चलना शुरू किया, तो वह भी बड़े आश्चर्य की बात हो गई; और जब वह मां को 'म्मा', बुआ को 'उआ' और रायचरण को 'चन्ना' कहकर पुकारने लगा, तब तो रायचरण इस आश्चर्यजनक संवाद को बड़े उत्साह से चारों तरफ घोषित करने लगा।

सबसे बड़ी ताज्जुब की बात तो यह है कि मा को 'म्मा' कहता है, बुआ को 'उआ' कहता है, पर उसे कहता है 'चन्ना'! वास्तव में बच्चे के दिमाग में यह बुद्धि आई कहां से, बतलाना कठिन है। अवश्य ही कोई ज्यादा उमर का आदमी ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय न दे सकता था, और देने पर भी उसके 'जज' होने की सम्भावना में सबको पूरा-पूरा सन्देह रह जाता।

कुछ दिन से रायचरण को मुंह में रस्सी दबाकर घोड़ा बनना पड़ता है। पहलवान बनकर बच्चे के साथ कुश्ती भी लड़नी पड़ती है, और उसमें अगर वह हारकर जमीन पर नहीं गिर पड़ता तो बेचारे की शामत आ जाती है।

इसी समय अनुकूल बाबू का पद्मा नदी के किनारे के किसी ज़िले में तबादला हो गया। वहां जाते वक्त वे अपने बच्चे के लिए कलकत्ता से एक छोटी-सी ठेलागाड़ी लेते गए थे। रायचरण सुबह-शाम दोनों वक्त नवकुमार को साटन का कुरता, सिर पर ज़रीदार टोपी, हाथ में सोने के कड़े और पैरों में लच्छे पहनाकर उस गाड़ी में बिठाकर हवा खिलाने ले जाता।

वर्षा ऋतु आई। भूखी पद्मा नदी खेत, बागबगीचे, गांव सबको एक-एक ग्रास में निगलने लगी। चर की रेती पर के पेड़-पौधे सब पानी में डूब गए। नदी के किनारे के कगारे धसकने की डरावनी आवाज़ और पानी के गर्जन से दसों दिशाएं मुखरित हो उठीं। तेज़ी से दौड़ती हुई फेनराशि ने नदी की तीव्र गति को और भी भयानक कर दिया।

उस दिन तीसरे पहर बादल घिर आए थे, पर बरसने की कोई सम्भावना न थी। आज रायचरण का खामखयाली नन्हा-सा मालिक किसी भी तरह घर में नहीं रहना चाहता। वह गाड़ी पर सवार होकर हवाखोरी को जाने के लिए अड़ गया। रायचरण धीरे-धीरे गाड़ी को ठेलता हुआ खेतों के पास नदी के किनारे जा पहुंचा। नदी में एक भी नाव न थी, और खेत में भी कोई आदमी न था। बादलों की संधों में से दिखाई दिया कि उस पार सुनसान बालुकामय नदी किनारे नीरव समारोह के साथ सूर्यास्त की तैयारियां हो रही हैं। उस निस्तब्धता में बालक सहसा एक पेड़ की तरफ उंगली उठाकर बोल उठा "चन्ना, फू: ?"

पास ही दलदल जमीन पर एक कदम का पेड़ था, उसकी ऊंची शाखा पर कुछ फूल खिले हुए थे, उन्हींपर बालक की लुब्ध दृष्टि आकृष्ट हुई थी। तीन-चार दिन हुए, रायचरण ने सींकों में गूंथ-गूंथकर उसे एक कदम के फूलों की गाड़ी बना दी थी—उसमें रस्सी बांधकर खींचने में बच्चे को ऐसा आनन्द आया कि उस रोज़ रायचरण को मुंह में लगाम नहीं लगानी पड़ी; घोड़े से वह एकाएक सईस के पद पर चढ़ा दिया गया।

दलदल में से जाकर फूल लाने की रायचरण की इच्छा न हुई। उसने चट से दूसरी ओर उंगली दिखाकर कहा, "देखो, देखो, वो-ओ देखो, चिरैया! देखो तो, उड़ गई, आहा! आइयो री चिरैया, लल्ला बाबू को लड्डू दे जइयो!" इस प्रकार लगातार विचित्र बातें

कर-करके बच्चे को बहलाता हुआ वह ज़ोर से गाड़ी चलाने लगा।

पर जो लड़का बड़ा होकर 'जज' होगा उसे इस तरह फुसलाने की कोशिश करना व्यर्थ है, खासकर उस समय जब कि चारों तरफ दृष्टि आकर्षित करनेवाली और कोई चीज़ ही न हो। लिहाज़ा रायचरण का काल्पनिक चिरैया का बहाना ज़्यादा देर न टिक सका। तब फिर रायचरण ने कहा, "तो तुम गाड़ी में बैठे रहना, अच्छा! मैं चट से फूल लिए आता हूं। खबरदार, पानी के किनारे न जाना!" यह कहता हुआ वह धोती ऊपर चढ़ाकर कदम के पेड़ की ओर चल दिया।

किन्तु वह जो पानी के किनारे जाने को मना कर गया था उससे बच्चे का मन कदम के फूल से हटकर उसी क्षण पानी की तरफ दौड़ गया। उसने देखा कि पानी 'कलकल-छलछल' करता हुआ दौड़ा जा रहा है। उसे ऐसा लगा कि जैसे शरारत करके किसी एक बड़े रायचरण के हाथ से निकलकर एक लाख शिशु-प्रवाह हंसता और कलकल गीत गाता हुआ मना किए हुए स्थान की ओर तेज़ी से भागा जा रहा हो।

उसके इस बुरे दृष्टान्त से मानव-शिशु का चित्त चंचल हो उठा। वह गाड़ी से उतरकर धीरे-धीरे पानी के पास पहुंचा, और एक लम्बे तिनके को उठाकर उसे मछली पकड़ने की बंसी बनाकर पानी में झुककर उससे मछली पकड़ने लगा। और नदी का चंचल पाना अस्फुट कलकल भाषा में बार-बार उसे अपने खेल में शामिल होने के लिए बुलाने लगा।

सहसा पानी में किसी चीज़ के गिरने की आवाज़ हुई। पर, बरसात में पद्मा के किनारे ऐसे कितने ही शब्द हुआ करते हैं। रायचरण ने झोली भरकर कदम फूल तोड़े, और पेड़ से उतरकर मुस्कराता हुआ वह गाड़ी के पास पहुंचा। वहां जाकर देखता है तो बच्चा नदारद! चारों तरफ अच्छी तरह निगाह दौड़ाकर देखा, पर कहीं भी किसीका चिह्न तक न दिखाई दिया। क्षण-भर में रायचरण का खून बरफ हो, गया। सारी दुनिया उसे सूनी, उदास और घुआंधार दीखने लगी। वह अपने टूटे हुए हृदय से चीख उठा, "लल्ला बाबू, लल्ला बाबू!"

किन्तु 'चन्ना' कहकर किसीने जवाब नहीं दिया, शरारत करके किसी बच्चे का कण्ठ खिलखिला नहीं उठा। सिर्फ पद्मा ही पहले की तरह 'कलकल-छलछल' करके दौड़ती रही। मानो वह कुछ जानती ही नहीं! मानो उसे दुनिया की इन सब छोटी-छोटी बातों पर ध्यान

देने की फुरसत ही नहीं।

जब शाम हुई तो बच्चे की उत्कण्ठित मां ने चारों तरफ आदमी दौड़ाए। लालटेन हाथ में लिए लोग नदी के किनारे पहुंचे। वहां देखा तो, रायचरण आंधी की हवा की तरह खेतों के चारों तरफ 'लल्ला बाबू,' 'लल्ला बाबू' चिल्लाता हुआ भटक रहा है, उसका गला बैठ गया है।

अन्त में घर लौटकर रायचरण धड़ाम से अपनी बहूजी के पैरों पर गिर पड़ा।

उससे बार-बार पूछा गया, वह रो-रोकर यही कहता रहा, "कहां गया, कुछ भी पता नहीं लगा, मां!"

यद्यपि सब समझ गए कि यह काम पद्मा का ही है, फिर भी गांव के बाहर जो बनजारे ठहरे हुए थे उनपर सन्देह रह ही गया। मां के मन में तो यह सन्देह पैदा हुआ कि कहीं रायचरण ने ही न चुरा लिया हो! यहां तक कि वह उसे बुलाकर कहने लगी, "तू मेरे लल्ला को लौटा दे, तुझे जितने रुपये चाहिए, मैं दूंगी।"

सुनकर रायचरण ने सिर्फ माथे पर हाथ दे मारा।

अन्त में मालकिन ने उसे निकाल बाहर कर दिया।

अनुकूल बाबू ने अपनी स्त्री के मन से रायचरण के प्रति इस अन्यायपूर्ण सन्देह को दूर करने की कोशिश की थी। उन्होंने स्त्री से पूछा था, 'रायचरण ऐसा जघन्य काम आखिर किसलिए करेगा?"

गृहिणी ने कहा, "क्यों! सोने के गहने नहीं पहने था वो?"

रायचरण देश चला गया। अब तक उसके कोई बाल-बच्चा नहीं हुआ था, और होने की कोई उम्मीद भी नहीं थी। पर होनहार की बात कि उसी साल, इतनी ज़्यादा उमर में, उसकी स्त्री के एक बच्चा हुआ; और उसीमें स्त्री की मृत्यु भी हो गई। अपने उस बच्चे पर रायचरण को बड़ा गुस्सा आया। उसे वह बैरी-सा दीखने लगा। उसने सोचा, यह छल करके लल्ला की जगह अपना हक जमाने आया है! सोचने लगा, मालिक के इकलौते बेटे को पानी में बहाकर खुद पुत्र-सुख का उपभोग करना उसके लिए महापातक के सिवा और कुछ नहीं। यहां तक कि रायचरण की विधवा बहन अगर न होती, तो शायद वह बच्चा दुनिया की हवा में ज़्यादा दिन तक सांस भी न ले

सकता था।

ताज्जुब की बात है कि उस लड़के ने भी कुछ दिन के बाद लल्ला की तरह ही चौखट पार करना शुरू कर दिया, और सब तरह की मनाहियों को न मानने में ठीक वैसी ही चतुरता दिखाने लगा! और तो क्या, उसके गले का स्वर, हंसने और रोने की आवाज़ बहुत कुछ उससे मिलती-जुलती है। किसी-किसी दिन रायचरण उसका रोना सुनता तो उसकी छाती सहसा धड़क उठती, उसे ऐसा लगता कि मानो उसका वह लल्ला भटक-भटककर रो रहा है।

फुलना भी, रायचरण की बहन ने अपने भतीजे का नाम रखा था फुलना, बुआ को 'उआ' कहकर पुकारने लगा। इस परिचित सम्बोधन को सुनकर एक दिन सहसा रायचरण को खयाल आया कि ज़रूर लल्ला ही, मेरे मोह को न छोड़ सकने की वजह से, मेरे घर आकर पैदा हुआ है।

इस विश्वास के अनुकूल कुछ अकाट्य युक्तियां भी थीं। पहले तो, उसके चले जाने के बाद इतनी जल्दी उसका जन्म होना; दूसरे, इतने वर्ष बाद सहसा उसकी स्त्री के गर्भ में लड़का पैदा होना, यह उसकी स्त्री के गुण से हरगिज़ नहीं हो सकता। तीसरे, यह भी उसी तरह घुटनों के बल चलता है, डगमगाता हुआ घूमता-फिरता है और बुआ को 'उआ' कहता है। जिन लक्षणों के होने से भविष्य में जज होने की सम्भावना है, उनमें से अधिकांश गुण इसमें मौजूद हैं।

तब 'बहूजी' के हृदय-विदारक सन्देह की बात उसे सहसा याद आ गई, और बड़े आश्चर्य में आकर वह मन ही मन कहने लगा, 'हां, हां, मां के मन ने ठीक जान लिया था कि किसीने उसके बच्चे को चुरा लिया है। ठीक तो है, तभी तो वह मेरे घर आकर पैदा हुआ है।' फिर, इतने दिन जो उसने बच्चे के प्रति लापरवाही रखी, उसके लिए उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। बच्चे को अब वह बहुत ज़्यादा चाहने और प्यार करने लगा।

अब से फुलना को वह इस तरह पालने लगा जैसे वह किसी बड़े घराने का बच्चा हो। उसके लिए वह साटन का कोट खरीद लाया, ज़रीदार टोपी भी ले आया, और अपनी स्त्री के गहने गलवाकर उनसे उसके लिए कड़े और लच्छे भी बनवा दिए। मुहल्ले के किसी भी लड़के के साथ वह उसे खेलने नहीं देता। रात-दिन खुद ही उसका साथी बनकर उससे खेलता रहता है। मुहल्ले के लड़के मौका पाते ही फुलना को

'नवाब का नाती' कहकर चिढ़ाया करते हैं। और गांव के लोग भी रायचरण के ऐसे उन्मत्तवत् आचरण पर आश्चर्य प्रकट करने लगे हैं।

फुलना जब पढ़ने लायक हुआ तब रायचरण अपनी ज़मीन वगैरह सब बेच-खोचकर उसे कलकत्ता ले गया। वहां बड़ी मुश्किल से एक नौकरी तलाश करके फुलना को उसने स्कूल में भरती करा दिया। खुद जैसे-तैसे गुज़र कर लेता, किन्तु लड़के को अच्छा खाना, बढ़िया पोशाक और अच्छी शिक्षा देने में कोई कसर न रखता। मन ही मन कहता, 'लल्ला बाबू, तुम मेरे मोह से मेरे घर आए हो, इसलिए तुम्हारा मैं निरादर नहीं कर सकता।'

इसी तरह बारह साल बीत गए। लड़का पढ़ने-लिखने में तेज़ और देखने में भी अच्छा हृष्ट-पुष्ट सांवले रंग का है, केश-वेश की सजावट की तरफ पूरा ध्यान रखता है, मिज़ाज में कुछ आरामतलबी और शौकीनी है। बाप को ठीक बाप जैसा नहीं समझता। कारण, रायचरण स्नेह करने में बाप और सेवा करने में नौकर जैसा बरताव करता है। इसके सिवा उसमें एक त्रुटि भी थी, यह कि वह फुलना का बाप है, यह बात उसने सबसे छिपा रखी थी। जिस छात्रावास में फुलना रहता है, वहां के और सब लड़के गंवार रायचरण की हंसी उड़ाया करते हैं, और कभी-कभी पिता की गैरहाज़िरी में फुलना भी उसमें शामिल हो जाया करता है। फिर भी, वत्सल स्वभाव भोले-भाले रायचरण को सभी लड़के बहुत प्यार करते हैं; फुलना भी प्यार करता है, परन्तु उसमें पितृ-स्नेह की जगह अनुग्रह ही ज़्यादा रहता है।

रायचरण अब बूढ़ा हो चला। उसका मालिक अब हर वक्त उसके काम-काज में दोष पकड़ता रहता है। वास्तव में उसका शरीर भी शिथिल हो चला है, काम में वह उतना ध्यान नहीं रख सकता, बार-बार भूल जाता है। पर जो पूरी तनखा देता है वह बुढ़ापे का उज्र नहीं सुन सकता। इधर वह जो खेत-जोत बेचकर रुपये लाया था वे भी सब खतम हो चले। और फुलना भी आजकल अपने को कपड़े-लत्तों से कुछ तंग महसूस करने लगा है।

सहसा एक दिन रायचरण ने काम से छुट्टी ले ली; और फुलना को कुछ रुपये देकर बोला, "लल्ला बाबू, ज़रूरी काम है मुझे, कुछ दिन

के लिए मैं देश जा रहा हूं।" बस, इतना कहकर वह बारासात चल दिया। अनुकूल बाबू उस समय बारासात में मुन्सिफ थे।

अनुकूल बाबू के और कोई बाल-बच्चा नहीं हुआ। उनकी स्त्री अब भी उस बच्चे के शोक में आंसू बहाया करती हैं।

एक दिन शाम के वक्त अनुकूल बाबू कचहरी से लौटकर आराम कर रहे थे, और उनकी स्त्री किसी साधु महात्मा से सन्तान की कामना से काफी कीमत देकर कोई जड़ी और आशीर्वाद खरीद रही थीं।

इतने में आंगन से आवाज़ आई, "जय हो बहूजी की !

बाबू साहब बोले, "कौन है ?"

रायचरण ने आकर नमस्कार किया, बोला, "मैं हूं, रायचरण।"

बूढ़े को देखकर अनुकूल का हृदय पसीज गया। उसकी मौजूदा हालत के बारे में उन्होंने सैकड़ों सवाल पूछ डाले। और फिर उन्होंने रायचरण को फिर से काम पर बहाल करने की इच्छा प्रकट की।

रायचरण ने सूखी हंसी हंसकर कहा, "मैं तो सिर्फ बहूजी की असीस लेने आया हूं।"

अनुकुल बाबू उसे अपने साथ भीतर ले गए। परन्तु उसकी 'बहूजी' ने प्रसन्नता से उसका आदर नहीं किया।

किंतु रायचरण ने कुछ ध्यान न देते हुए हाथ जोड़कर कहा, "बहूजी, मैंने ही तुम्हारा लड़का चुराया था। पद्मा ने नहीं, और किसीने भी नहीं, उसका चुरानेवाला मैं ही हूं, किरतघ्नी हूं मैं, पापी हूं।"

अनुकूल बाबू कह उठे, "क्या कह रहा है तू ! कहां है वह ?"

"जी, मेरे ही पास है। मैं परसों यहां पहुंचा दूंगा।"

इतना कहकर रायचरण चला गया।

उस दिन रविवार था। कचहरी की छुट्टी थी। सवेरे से स्त्री-पुरुष दोनों जने बड़ी उत्सुकता से रायचरण के आने की राह देख रहे थे।

करीब दस बजे फुलना को साथ लेकर रायचरण हाज़िर हुआ।

अनुकूल बाबू की स्त्री ने लड़के से कुछ पूछताछ नहीं की, और न कुछ सोचा-विचारा ही, वे चट से उसे गोद में बिठाकर, छाती से चिपटाकर मुंह चूमकर अतृप्त नयनों से उसका मुखड़ा देखकर कभी रोती और कभी हंसती हुई व्याकुल हो उठीं। दरअसल लड़का देखने में बहुत अच्छा था। उसके पहनावे में, रहन-सहन में गरीबी का कोई लक्षण

ही नहीं था। मुंह पर अत्यन्त प्रियदर्शन, विनीत, सलज्ज भाव देखकर अनुकूल के हृदय में भी सहसा स्नेह उमड़ आया। फिर भी उन्होंने दृढ़ता के साथ पूछा, "कोई सबूत है?"

रायचरण ने कहा, "ऐसे काम का सबूत क्या होगा, बाबू साहब? मैंने जो आपका लड़का चुराया था, इस बात को सिर्फ मैं ही जानता हूं या भगवान जानते हैं, संसार में तीसरा कोई नहीं जानता।"

अनुकूल ने सोच-समझकर निश्चय किया कि लड़के को पाते ही उनकी स्त्री ने जिस आग्रह के साथ उसे अपना लिया है, उसे देखते हुए अब सबूत चाहना कुछ मानी नहीं रखता। जैसे भी बने विश्वास करना ही अच्छा है। इसके सिवा, और भी एक बात है, रायचरण को ऐसा लड़का मिल भी कहां से सकता है? दूसरे, इतना पुराना बूढ़ा नौकर बिना वजह उन्हें धोखा देगा ही क्यों?

लड़के से भी बातचीत करने पर यही मालूम हुआ कि बचपन से ही वह रायचरण के साथ है, और अब तक उसीको वह पिता समझता आया है; किन्तु रायचरण ने कभी भी उसके साथ पिता के समान व्यवहार नहीं किया, बल्कि वह नौकर जैसा बरताव करता रहा है। अन्त में, अनुकूल ने मन से सन्देह दूर करके कहा, "लेकिन, रायचरण, अब तू हम लोगों की परछाईं भी न छू सकेगा।"

रायचरण ने हाथ जोड़कर गद्गद कण्ठ से कहा, "मालिक साहब, अब इस बुढ़ापे में मैं कहां जाऊंगा?"

मालकिन ने कहा, "नहीं, नहीं, रहने दो। लल्ला मेरा खुश बना रहे। इसे मैं माफ करती हूं।"

किन्तु न्यायपरायण जज अनुकूलचन्द्र ने कहा, "इसने ऐसा भयंकर कसूर किया है कि इसे माफ नहीं किया जा सकता।"

रायचरण ने अनुकूल बाबू के पैर पकड़कर कहा, "मैंने कुछ नहीं किया, बाबू साहब, भगवान ने किया है।"

अपना पाप ईश्वर के सिर मढ़ने की कोशिश करते देख जजसाहब और भी ज़्यादा नाराज़ हो उठे। बोले, "जिसने ऐसा विश्वासघात का काम किया है, उसपर अब फिर विश्वास करना ठीक नहीं!"

रायचरण ने पैर छोड़कर कहा, "ऐसा मैं नहीं हूं मालिक!"

"तो कौन है?"

"मेरा भाग्य।"

किन्तु, इस तरह की कैफियत से किसी उच्च शिक्षित और खासकर न्यायकर्ता दण्डदाता 'जज' को भला कैसे संतोष हो सकता है!

रायचरण ने कहा, "संसार में मेरा और कोई भी नहीं है, मालिक।"

फुलना ने जब देखा कि वह मुन्सिफ का लड़का है, रायचरण ने अब तक उसे चुरा रखा था और अपना लड़का बताकर वह उसका अपमान करता रहा है, तब उसे भी मन ही मन कुछ गुस्सा आया। किन्तु फिर भी उसने उदारता के साथ पिता से कहा, "पिताजी, इसे माफ कर दो। घर में अगर नहीं रखना चाहते, तो इसके लिए कुछ माहवारी बांध दो।"

इसके बाद रायचरण ने मुंह से कुछ भी न कहकर एक बार अपने इकलौते बेटे का अच्छी तरह मुंह देखा, सबको प्रणाम किया, और फिर दरवाज़े से बाहर निकलकर संसार के असंख्य आदमियों में जाकर बिला गया।

महीने के अन्त में अनुकूल बाबू ने जब उसके देश के पते से कुछ रुपये भेजे तो मनी आर्डर वापस आ गया। वहां कोई था ही नहीं।

[मूल रचना : अगहन, १९४८]

पोस्टमास्टर

नौकरी लगते ही पोस्टमास्टर को ओलापुर गांव आना पड़ा। गांव बहुत ही मामूली है। पास ही एक नील की कोठी है। उस कोठी के साहब ने बड़ी कोशिश से यहां नया पोस्ट आफिस कायम करवाया है।

हमारे पोस्टमास्टर का बचपन बीता है कलकत्ता में। पानी की मछली को किनारे पर डाल देने से उसकी जैसी हालत होती है, इस छोटे-से गांव में आकर पोस्टमास्टर की भी वही दशा हुई। एक अंधेरी

मढ़ैया में उनका आफिस है, पास ही एक गन्दा तालाब है और उसके चारों तरफ जंगल। कोठी में जो गुमाश्ता वगैरह मुलाज़िम है उन्हें फुरसत ही नहीं कि किसीसे मिलें-जुलें और फिर, वे भले आदमियों से मिलने-जुलने के काबिल भी नहीं हैं। खासकर कलकत्ता के लड़के तो अच्छी तरह मिलना-जुलना जानते ही नहीं। अपरिचित स्थान में आकर या तो वे उद्धत हो जाते हैं, या गुमसुम बने रहते हैं। यही वजह है कि गांव के लोगों से पोस्टमास्टर का मेल-जोल नहीं हो सका। इधर हाथ में काम-काज भी ज़्यादा नहीं जिसमें लगे रहें। कभी-कभी थोड़ी-बहुत कविता लिखने की कोशिश करते हैं, और उसमें ऐसा भाव व्यक्त करते हैं कि मानो तमाम दिन पेड़-पत्तियों का कम्पन और आकाश के मेघों को देखकर ही जीवन बड़े सुख से बीता जा रहा हो! किन्तु अन्तर्यामी ही जानते होंगे कि अगर 'अलिफ लैला' का कोई दैत्य आकर एक ही रात में इन डाल और पत्तों समेत पेड़ों को काटकर बड़ी सड़क बना दे और उसके दोनों तरफ पंक्तिवार बड़े-बड़े पक्के मकान खड़े करके आकाश के मेघों को दृष्टि के ओझल कर दे, तो इस अधमरे भले आदमी के लड़के को फिर से नवजीवन मिल जाए।

पोस्टमास्टर की तनखा बहुत थोड़ी है। खुद रांधकर खाना पड़ता है, और गांव की एक पितृ-मातृहीन अनाथ बालिका उनका काम-काज कर देती है। उसे थोड़ा-बहुत खाने को मिल जाता है।

लड़की का नाम है रतन। उमर बारह-तेरह साल की होगी। ब्याह की कोई खास उम्मीद नहीं मालूम होती।

सन्ध्या के समय जब गांव के ग्वालघरों से घना धुआं उठता, चारों तरफ से झींगुर बोलने लगते, कुछ दूरी पर गांव के नशेबाज़ गवैयों की चौकड़ी ढोलक-मजीरा बजाकर ऊंचे स्वर से गाना शुरू कर देती, और जब अंधेरी मढ़ैया में अकेले बैठे हुए कवि के हृदय में भी पेड़ों की कंपकंपी देखकर मामूली हृत्कम्प उपस्थित होता, तब घर के कोने में एक दिया जलाकर पोस्टमास्टर पुकारते, "रतन!"

रतन दरवाज़े पर बैठी हुई इसी बुलाहट के लिए बाट देखती रहती। किन्तु एक बार बुलाने पर भीतर न आती, कहती, "क्या है, बाबूजी, काहे बुलाते हो?"

पोस्टमास्टर कहते, "तू क्या कर रही है?"

रतन कहती, "अभी चूल्हा सुलगाने जाऊंगी रसोई में।"

पोस्टमास्टर कहते, "रसोई का काम पीछे कर लेना, जा, ज़रा हुक्का तो भर ला।"

कुछ ही देर वाद दोनों गाल फुलाकर चिलम पर फूंक मारती हुई रतन भीतर आती। उसके हाथ से हुक्का लेकर पोस्टमास्टर चट से पूछ बैठते, "अच्छा, रतन, तुझे अपनी मां की याद है?"

उसकी मां का बड़ा लम्बा किस्सा है। कुछ याद है, कुछ भूल गई है। मां की अपेक्षा वाप उसे ज़्यादा प्यार करता था। बाप की थोड़ी-थोड़ी उसे याद है। मेहनत-मजूरी करके बाप शाम को घर आता था। उनमें से कोई-कोई सन्ध्या उसके हृदय पर तस्वीर की तरह साफ-साफ अंकित है।

किस्सा सुनाते-सुनाते रतन पोस्टमास्टर के पैरों के पास ज़मीन पर बैठ जाती। उसे याद आती, उसके एक छोटा भाई था। बहुत दिन की बात है, बरसात के दिनों में एक दिन छोटी तलैया के किनारे दोनों भाई-बहन मिलकर पेड़ की डाली की छड़ी-कांटी बनाकर झूठमूठ को मछली पकड़ना खेला करते थे। बहुत-सी बड़ी-बड़ी घटनाओं में से यही एक बात उसे ज़्यादा याद आती है। ऐसे ही बातचीत करते-करते कभी-कभी बहुत रात हो जाती, तव मारे आलस के पोस्टमास्टर की रसोई बनाने की तबीयत न होती। सवेरे की जो कुछ बासी दाल-तरकारी बची रहती और रतनी जल्दी से चूल्हा सुलगाकर जो दो-चार रोटी सेंक लाती, उसीसे रात को दोनों का पेट भर जाता।

कोई-कोई दिन शाम को उस मढ़ैया के कोने में आफिस की चौकी पर बैठकर पोस्टमास्टर भी अपने घर की बात छेड़ते। छोटे भाइयों की, मां और बहन की, और प्रवास में सूने घर में बैठकर जिनके लिए हृदय व्यथित हो उठता उनकी बातें करते। जो बातें हर घड़ी मन में उठती रहतीं और जो नीलकोठी के गुमाश्तों से भी नहीं कही जा सकतीं, वे ही बातें एक अशिक्षित और मामूली लड़की से कहते चले जाते, ज़रा भी हिचकिचाते नहीं। आखिर ऐसा हो गया कि लड़की बातचीत करते वक्त उनके घरवालों को मां, जीजी, भैया कहने लगी, यहां तक कि उसने अपने छोटे-से हृदय-पट पर उनकी काल्पनिक मूर्तियां भी चित्रित कर लीं।

एक दिन वर्षा ऋतु के वादलों से मुक्त दोपहर को कुछ गरम

सुकोमल हवा चल रही थी। धूप से भीगी घास और पेड़-पौधों में से एक प्रकार की महक निकल रही थी। ऐसा मालूम होता था जैसे थकी हुई पृथ्वी की गरम सांस शरीर पर आकर टकरा रही हो, और न जाने कहां की एक ज़िद्दिन चिड़िया इस भरी दुपहरी में प्रकृति के दरबार में अपनी तमाम शिकायतें बहुत ही करुण स्वर में बार-बार पेश कर रही हो। पोस्टमास्टर के हाथ में कोई काम न था। उस दिन वर्षा से धुले पेड़-पौधे, उनके चिकने कोमल पत्तों की हिलोरें और पराजित वर्षा की भग्नावशिष्ट धूप से चमकते हुए स्तूपाकार शुभ्र मेघ सचमुच ही देखने लायक थे। पोस्टमास्टर वही देख रहे थे, और सोच रहे थे, 'काश, कि इस समय पास में अगर कोई खास अपना आदमी होता, हृदय के साथ बिलकुल मिली हुई कोई स्नेह-पुतली मानव मूर्ति होती!' धीरे-धीरे ऐसा मालूम होने लगा कि मानो वह चिड़िया उसी एक ही बात को बार-बार कह रही है, और पेड़ों की छाया में डूबे हुए इस सुनसान दोपहर के पल्लव-मर्मर का अर्थ भी कुछ-कुछ वैसा ही है। हालांकि कोई विश्वास नहीं करता, और जान भी नहीं पाता, पर छोटे-से गांव के मामूली तनखावाले सब-पोस्टमास्टर के मन में इस गहरी गुमसुम दुपहरिया में छुट्टी के दिन ऐसा ही एक भाव उठा करता है।

पोस्टमास्टर ने एक लम्बी सांस छोड़कर पुकारा, "रतन!"

रतन उस समय अमरूद के पेड़ के नीचे बैठी कच्चा अमरूद खा रही थी। मालिक की आवाज़ सुनकर वह तुरन्त दौड़ी आई, और हांफती हुई बोली, "बाबूजी, मुझे बुला रहे हो?"

पोस्टमास्टर ने कहा, "तुझे मैं थोड़ा-थोड़ा पढ़ना सिखाऊंगा।"

इसके बाद दोपहर-भर उसे वे 'अ, आ, इ, ई' सिखाते रहे। इस तरह थोड़े ही दिनों में उसे युक्ताक्षर तक पढ़ा दिए।

सावन का महीना है, वर्षा की कोई हद नहीं। नहर, बम्बा, ताल-तलैया, नदी-नाले सबके सब पानी से भर गए। रात-दिन मेढ़कों की टर्र-टर्र और वर्षा की झमझम आवाज़ सुनाई पड़ती रहती है। गांव की सड़क पर चलना-फिरना करीब-करीब बन्द हो गया है। नाव पर बैठकर हाट जाना पड़ता है।

एक दिन सवेरे से ही खूब बादल छा रहे थे। पोस्टमास्टर की छात्रा बहुत देर से दरवाज़े पर बैठी बुलाहट की बाट जोह रही थी।

किन्तु और दिनों की तरह नियमित पुकार न होने से अन्त में वह खुद ही अपनी पोथी लेकर धीरे-धीरे घर के भीतर पहुंची। देखा, पोस्ट-मास्टर अपनी खाट पर पड़े हैं। उसने यह सोचकर कि दाबूजी आराम कर रहे हैं, धीरे से बाहर निकल जाना चाहा। इतने में सहसा सुनाई पड़ा, "रतन!"

वह चट से पीछे को लौटकर बोली, 'बाबूजी, तुम तो सो रहे थे न?"

पोस्टमास्टर ने करुण स्वर में कहा, "मेरी तबीयत अच्छी नहीं मालूम होती, रतन! देख तो मेरे माथे पर हाथ रखकर।"

ऐसे निर्जन-निःसंग प्रवास में घनी-घनी वर्षा में रोग-पीड़ित शरीर को ज़रा सेवा पाने की इच्छा होती ही है, तपते हुए माथे पर चूड़ियों-वाले कोमल हाथों का स्पर्श याद आ ही जाता है, और रोग की पीड़ा में ऐसा सोचने को जी चाहता है कि स्नेहमयी नारी-रूप में जननी और जीजी पास बैठी है। यहां भी प्रवासी की मन की अभिलाषा व्यर्थ न गई। बालिका रतन अब बालिका न रही। उसी क्षण उसने जननी का पद ले लिया। वह वैद्य बुला लाई, ठीक समय पर दवा खिला दी, सारी रात सिरहाने बैठी जागती रही, अपने-आप पथ्य बना लाई, और सौ-सौ बार पूछती रही, "बाबूजी, कुछ आराम मालूम पड़ता है?"

पोस्टमास्टर कमज़ोर शरीर लेकर रोग-शय्या से उठे। मन में इरादा कर लिया था कि 'बस, अब नहीं, यहां से किसी भी तरह तबादला कराना ही है। यहां तन्दुरुस्ती ठीक नहीं रहती, और आब-हवा ठीक नहीं' वगैरह लिखकर उसी समय उन्होंने कलकत्ता के अफसर को तबादले के लिए अरज़ी लिख भेजी।

रोगी की सेवा से छुट्टी पाकर रतन फिर दरवाज़े के बाहर अपनी जगह पर जा बैठी; किन्तु पहले की तरह अब उसे कोई बुलाता नहीं। बीच-बीच में वह झांककर देखती, पोस्टमास्टर अनमने होकर चौकी पर बैठे हैं या खाट पर पड़े हैं। रतन जब बुलाहट की प्रतीक्षा में बाहर बैठी रहती तब वे अधीर चित्त से अपनी अरज़ी के जवाब की प्रतीक्षा करते रहते। बालिका ने दरवाज़े पर बैठे-बैठे हज़ार बार अपना पुराना पाठ घोखना शुरू किया। उसे डर था कि कहीं अचानक न पुकार बैठें, और तब वह युक्ताक्षरों को भूल गई तो?

अन्त में एक सप्ताह बाद एक दिन शाम को पुकार हुई। घबराहट के साथ रतन भीतर गई, बोली, "बाबूजी, मुझे बुला रहे थे!"

"रतन, मैं कल चला जा रहा हूं।"

"कहां चले जाओगे, बाबूजी!"

"घर जाऊंगा।"

"फिर कब आओगे?"

"अब नहीं आऊंगा।"

रतन ने फिर कोई बात नहीं पूछी। पोस्टमास्टर ने खुद ही उससे कहा, "मैंने तबादले के लिए अरज़ी दी थी, अरज़ी मंज़ूर नहीं हुई। इसलिए काम छोड़कर घर चला जा रहा हूं।" बहुत देर तक दोनों चुप रहे। एक कोने में दिया टिमटिमाता रहा, और एक जगह मकान की पुरानी छत चूकर एक मिट्टी के सरवे में टपटप बरसात का पानी टपकता रहा।

कुछ देर बाद रतन धीरे से उठकर रसोईघर में रोटी बनाने चली गई। और दिनों की तरह उसमें उतनी फुरती नहीं थी; शायद बीच-बीच में उसे बहुत-सी चिन्ताएं आ घेरती थीं।

पोस्टमास्टर जब खाकर उठे, तो बालिका अचानक पूछ बैठी, "बाबूजी, मुझे अपने घर ले चलोगे?"

पोस्टमास्टर ने हंसकर कहा, "सो कैसे हो सकता है!"

बात क्या है, सो उन्होंने समझाने की जरूरत नहीं समझी। रात-भर, सपने में और जागते में बालिका के कानों में पोस्टमास्टर की वही एक हास्यध्वनि गूंजती रही, 'सो कैसे हो सकता है?'

सवेरे उठकर पोस्टमास्टर ने देखा कि उनके नहाने के लिए पानी तैयार है। कलकत्ता की आदत के अनुसार वे बालटी में रखे हुए पानी से नहाते थे। किसी कारण से बालिका उनसे यह न पूछ सकी कि वे किस वक्त जाएंगे। कहीं तड़के ही न ज़रूरत पड़ जाए, इस खयाल से उसने पौ फटते ही नदी से पानी लाकर रख दिया था।

नहा चुकने के बाद रतन की पुकार हुई। रतन चुपचाप घर के भीतर पहुंची, और आज्ञा पाने की आशा से उसने एक बार मालिक के मुंह की ओर देखा।

मालिक ने कहा, "रतन, मेरी जगह पर जो बाबू आएंगे, उनसे मैं कह जाऊंगा, वे तुझे मेरी ही तरह जतन से रखेंगे। मैं जा रहा हूं, इसके लिए तू फिकर मत कर।"

ये बातें अत्यन्त स्नेह और दयार्द्र हृदय से निकली थीं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु नारी के हृदय को कौन समझे ? रतन ने अनेक बार मालिक के अनेक तिरस्कार चुपचाप सहे हैं, किन्तु आज की ये मीठी बातें उससे नहीं सही गईं। वह एकसाथ सिसक-सिसककर रोने लगी, बोली, "नहीं, नहीं, तुम किसीसे भी कुछ मत कह जाना, मैं नहीं रहना चाहती।"

पोस्टमास्टर ने रतन का ऐसा व्यवहार कभी न देखा था, इससे वे दंग रह गए।

नया पोस्टमास्टर आया। उसे सारा चार्ज समझाकर पुराने पोस्ट-मास्टर चलने की तैयारी करने लगे।

चलते समय उन्होंने रतन को बुलाकर कहा, "रतन, तुझे मैं कभी भी कुछ दे नहीं सका हूं। आज जाते समय तुझे कुछ दिए जाता हूं, इससे तेरी कुछ दिनों की गुज़र चल जाएगी।"

अपने राह-खर्च के लिए थोड़े-से रुपये निकालकर, जो भी कुछ तनखा के रुपये मिले थे उन्हें वे जेब से निकालकर देने लगे।

तब रतन ने धूल में लोटकर उनके पैर पकड़कर कहा, "बाबूजी, तुम्हारे पांव पड़ती हूं, पांव पड़ती हूं, मुझे कुछ मत दो। तुम्हारे पांव पड़ती हूं, मेरे लिए किसीको भी कुछ सोच करने की ज़रूरत नहीं!" इतना कहकर वह वहां से भाग गई।

भूतपूर्व पोस्टमास्टर एक गहरी सांस लेकर हाथ में कार्पेट का बैग लटकाए, कंधे पर छतरी रखे, मज़दूर के सिर पर नीले और सफेद रंग की लकीरों से रंगा हुआ टीन का बकस रखवाकर धीरे-धीरे घाट की तरफ चल दिए।

जब वे नाव पर चढ़े और नाव छूट गई, वर्षा के पानी से दूर तक फैली हुई नदी जब आवेग से निकले हुए पृथ्वी के आंसुओं की तरह चारों तरफ चमकने लगी तब हृदय के भीतर वे एक गहरी वेदना का अनुभव करने लगे। एक साधारण गांव की लड़की का करुण चेहरा और उससे भी करुण आंसू-भरी आंखें मानो एक विश्वव्यापी बृहत् अव्यक्त मर्म-व्यथा बनकर उनके हृदय को व्यथित करने लगीं। एक बार बड़ी इच्छा हुई कि लौट चलें, संसार की गोद से छिटकी हुई इस अनाथ लड़की को साथ लेते चलें, किन्तु तब पाल में हवा भर चुकी थी,

वर्षा का स्रोत वेग से चल रहा था, नाव गांव पार कर चुकी थी, नदी-किनारे का श्मशान दिखाई दे रहा था, और तब नदी के प्रवाह में बहते हुए पथिक के व्यथित हृदय में इस तत्त्व का उदय हो रहा था कि 'जीवन में ऐसे कितने विच्छेद, कितनी मौतें आती रहेंगी—लौटने से फायदा ? संसार में कौन किसका है ?'

पर रतन के मन में किसी भी तत्त्व का उदय नहीं हुआ । वह उस पोस्टआफिस के चारों तरफ सिर्फ आंसू-बहाती हुई घूम रही थी। शायद उसके मन में क्षीण आशा जाग रही थी कि बाबू शायद लौट आवें; और इसी बन्धन में पड़कर बेचारी कहीं दूर नहीं जा सकती थी । हाय रे बुद्धिहीन मानव-हृदय, तेरी भ्रान्ति किसी तरह मिटती ही नहीं ! युक्तिशास्त्र का विधान बहुत देर से माथे में घुसता है, प्रबल और साक्षात् प्रमाण का भी विश्वास न कर झूठी आशा को दोनों भुजाओं से बांधकर जी-जान से छाती से लगाए रहता है ! और आखिर एक दिन आशा जब तमाम नाड़ियों को काटकर हृदय का खून चूस-कर गायब हो जाती है तब होश आता है। किन्तु आश्चर्य है, फिर तुरत ही दूसरे भ्रान्ति-जाल में पड़ने के लिए उसका चित्त व्याकुल हो उठता है ।

[मूल रचना : १९४८]

दृष्टि-दान

सुना है कि आजकल बहुत-सी भारतीय लड़कियों को अपनी कोशिश से अपने लिए पति चुनना और संग्रह करना पड़ता है। मैंने भी ऐसा ही किया है, किन्तु देवता की सहायता से। मैं बचपन ही से बहुत-से व्रत-उपवास और शिव-पूजा करती आई हूं।

मैं पूरे आठ बरस की भी न हो पाई थी कि मेरा ब्याह हो गया। किन्तु शायद पहले जन्म के पाप के कारण मैं अपने ऐसे अच्छे पति को पाकर भी पूरा न पा सकी। माता त्रिनयनी ने मेरी दोनों आंखें ले लीं। उन्होंने मुझे जीवन के अन्तिम क्षण तक पति को देखते रहने का सुख नहीं दिया।

बचपन से ही मेरी अग्नि-परीक्षा शुरू हुई। चौदहवां साल पूरा भी न हो पाया कि मैंने एक मरा हुआ बच्चा जना, और खुद भी लगभग मौत के पास पहुंच गई। किन्तु जीवन में जिसे दुःख भोगने हैं, भला वह मर कैसे सकती है? जो दिया जलने के लिए पैदा हुआ है उसमें तेल कम नहीं होता, वह तो रात-भर जलकर फिर बुझता है।

मरते-मरते बच तो गई, किन्तु देह की कमज़ोरी, मानसिक दुःख या और किसी भी कारण से हो, मेरी आंखों में दर्द शुरू हो गया, और आंखें खराब होने लगीं।

मेरे पति उन दिनों डाक्टरी पढ़ रहे थे। नई विद्या सीखने के उत्साह में इलाज करने का कोई मौका हाथ लगते ही वे निहायत खुश हो जाते। मेरी आंखें खराब होने लगीं तो उन्होंने खुद ही मेरा इलाज करना शुरू कर दिया।

मेरे बड़े भाई साहब उस साल वकालत की परीक्षा देने के लिए लॉ कालेज में पढ़ रहे थे। उन्होंने एक दिन आकर मेरे पति से कहा, "तुम यह कर क्या रहे हो, भाई? कुमुद को अन्धी ही कर डालोगे क्या? किसी अच्छे डाक्टर को क्यों नहीं दिखाते?"

मेरे पति ने कहा, "अच्छा डाक्टर आकर नया इलाज क्या करेगा? दवा वगैरह तो सब मालूम ही है।"

भाई साहब को कुछ गुस्सा-सा आ गया, बोले, "तब तो फिर तुममें और तुम्हारे कॉलेज के प्रिंसिपल में कोई फर्क ही नहीं!"

पति ने कहा, "तुम कानून पढ़ रहे हो, डाक्टरी का तुम क्या जानो ! जब तुम ब्याह कर चुकोगे तब तुमसे मैं पूछूंगा कि तुम्हारी स्त्री की जायदाद पर अगर कोई मुक़दमा चला बैठे, तो तब तुम क्या मेरी सलाह पर चलोगे ?"

मैं मन ही मन सोच रही थी कि 'राजा-राजाओं की लड़ाई में बेचारे सिपाहियों की शामत है। मेरे पति के साथ भइया की खटपट हो गई, पर दोनों ओर से चोट मुझ ही पर पड़ने लगी।' मैंने सोचा, 'मायकेवालों ने जब मुझे दान ही कर दिया है, तब फिर मेरे बारे में क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इन सब बातों में वे क्यों पड़ते हैं ? मेरी बीमारी और तन्दुरुस्ती, मेरा सुख और दुःख, सब कुछ मेरे पति का ही तो है।'

उस दिन मेरे इस मामूली-से आंख के इलाज को लेकर भाई साहब के साथ मेरे पति का मनमुटाव-सा हो गया। एक तो वैसे ही मेरी आंखों से पानी गिरता था, और फिर तो मेरी वह आंसुओं की धारा और भी बढ़ गई। इसका असल कारण मेरे पति या भाई साहब दोनों में से कोई भी न समझ पाए।

मेरे पति के कालेज चले जाने पर, एक दिन शाम को अचानक भाई साहब आ गए डाक्टर लेकर। डाक्टर ने परीक्षा करके कहा, "सावधानी से इलाज न हुआ और इसी तरह बदपरहेजी होती रही, तो ताज्जुब नहीं कि आंखों से ही हाथ धोना पड़े।" डाक्टर ने दवा लिख दी और भाई साहब ने उसी वक्त दवा मंगाने के लिए आदमी भेज दिया।

डाक्टर के चले जाने पर मैंने भाई साहब से कहा, "भइया, तुम्हारे मैं पैरों पड़ती हूं, मेरा जो इलाज हो रहा है उसमें तुम अब किसी तरह की रुकावट मत डालो।"

बचपन ही से मैं भाई साहब से खूब डरा करती थी। उनसे मैं इस तरह मुंह खोलकर बात कर सकी, मेरे लिए यह बड़े आश्चर्य की बात थी। किन्तु मैंने यह सब अच्छी तरह समझ लिया था कि मेरे पति से छिपाकर भइया जो मेरा इलाज करा रहे हैं, मेरे लिए यह अशुभ के सिवा शुभ हर्गिज नहीं हो सकता। भाई साहब को भी मेरी इस ढिठाई से शायद कुछ अचम्भा हुआ। वे कुछ देर चुप रहकर, खूब सोच-विचारकर, अन्त में बोले, "अच्छा, अब मैं डाक्टर नहीं लाऊंगा। लेकिन,

जो दवा मंगाई है उसे ठीक तरीके से ले लेना, फिर देखा जाएगा।"

दवा आने पर मुझे उसकी सेवन-विधि समझाकर भाई साहब चले गए।

पति के कॉलेज से वापस आने के पहले ही मैंने दवा की शीशी, डिबिया, फुरफुती, वगैरह सब उठाकर अपने आंगन के कुएं में फेंक दीं।

भाई साहब के साथ मानो कुछ विरोध करके ही पति ने दूने उत्साह से मेरी आंखों का इलाज करना शुरू कर दिया। वे सुबह-शाम दोनों वक्त दवा बदलने लगे। आंखों पर पट्टी बांधी, चश्मा लगाया, बूंद-बूंद दवा डाली, पाउडर लगाया, बदबूदार मछली का तेल पीया, भीतर का खाया-पीया और अंतड़ियां तक सब बाहर निकल आने लगीं, उसे भी सहा। पति पूछते, "अब कैसी मालूम होती हैं?" मैं कहती, "अच्छी ही हैं. फायदा है।" और फिर मैं भीतर से भी अनुभव करने की कोशिश किया करती कि मुझे आराम हो रहा है। जब ज़्यादा पानी गिरने लगता तो सोचती कि 'पानी का निकल जाना ही अच्छा है' और जब पानी गिरना बन्द हो जाता तो सोचती कि 'अब तो आराम हुआ ही समझो।'

किन्तु कुछ दिन बाद दर्द असह्य हो उठा, आंखों से धुंधला दीखने लगा, और सिर में तो ऐसा दर्द होने लगा कि उससे मैं बहुत ही दुःखी और परेशान हो गई। मेरे पति भी शायद कुछ लज्जित-से मालूम हुए। और इतने दिन बाद अब वे किस बहाने से डाक्टर बुलावें, कुछ तय न कर सके।

मैंने उनसे कहा, "भाई साहब की बात रखने के लिए एक बार किसी डाक्टर को दिखाने में हर्ज क्या है? भाई साहब नाराज़ हो गए हैं, इससे मेरा जी दुःख पा रहा है। इलाज तो तुम्हीं करोगे, फिर भी एक डाक्टर का रहना अच्छा है।"

पति ने कहा, "तुम ठीक कह रही हो।"

और फिर, उसी दिन वे एक अंगरेज़ डाक्टर को बुला लाए। दोनों में अंगरेज़ी में क्या बातचीत हुई, सो मैं नहीं कह सकती, लेकिन इतना मैं समझ गई कि साहब ने मेरे पति को कुछ डांटा-फटकारा, और वे सिर झुकाए चुपचाप खड़े रहे।

डाक्टर के चले जाने पर, मैंने अपने पति का हाथ पकड़ कर कहा, "तुम तो न जाने कहां से एक गंवार गोरे गधे को पकड़ लाए, किसी

देशी डाक्टर को लाते। मेरी आंखों की बीमारी को गोरा डाक्टर क्या तुमसे भी ज़्यादा समझ सकता है!"

पति ने कुछ संकोच के साथ ही कहा, "आंखों में नश्तर कराना पड़ेगा।"

मैंने ज़रा गुस्सा लाकर कहा, "नश्तर कराना होगा, यह तो तुम खुद ही जानते थे, सिर्फ तुमने मुझसे छिपा रखा था। तुम क्या समझते हो कि मैं नश्तर से डरती हूं?"

उनका संकोच दूर हो गया। वे बोले, "आंखों में नश्तर लगने की बात सुनकर न डरें, मरदों में ऐसे बहादुर कितने निकलेंगे?"

मैंने मज़ाक में कहा, "अजी, मरदों की बहादुरी तो सिर्फ औरतों के सामने ही है!"

उसी क्षण उनके चेहरे पर म्लान गम्भीरता छा गई, बोले, "ठीक कह रही हो तुम। मरदों में सिर्फ घदण्ड ही घमण्ड है।"

मैंने उनकी गम्भीरता को फूंक से उड़ाते हुए कहा, "अजी, घमण्ड में भी तो तुम लोग औरतों से बाज़ी नहीं मार सकते। उसमें भी अन्त में हमारी ही जीत होती है।"

इस बीच में भाई साहब भी आ गए। मैंने उन्हें एकान्त में ले जाकर कहा, "भाई साहब, तुम्हारे उस डाक्टर की दवा से अब तक मेरी आंखें कुछ-कुछ अच्छी हो रही थीं, पर एक दिन भूल से पीने की दवा आंखों में डालने और लगाने की दवा पी जाने से आंखों की यह हालत हो गई कि डाक्टर कहते हैं, आंखों में नश्तर लगवाना पड़ेगा।"

भाई साहब ने कहा, "मैं तो समझता था कि तेरे पति का इलाज चल रहा है। इसीसे मैं गुस्से में इतने दिनों से आया नहीं।"

मैंने कहा, "नहीं तो। मैं छिपे-छिपे उसी डाक्टर की दवा ले रही थी। कहीं वे नाराज़ न हो जाएं, इस डर से उनसे कहा नहीं मैंने।"

स्त्री का जन्म लेकर इतना झूठ बोलना पड़ता है कि जिसकी हद नहीं। भाई साहब का मन भी नहीं दुखा सकती, और पति के यश को भी ज्यों का त्यों रखना मेरे लिए लाज़मी है। मां होकर बच्चे को भी बहलाना पड़ता है, और स्त्री होकर बच्चे के बाप को भी खुश रखना पड़ता है। उफ्, स्त्रियों के लिए इतने छल-छन्द की ज़रूरत होती है!

इस छल-छन्द का नतीजा यह हुआ कि अन्धी होने के पहले मैं अपने भाई और पति का मिलन देख सकी। भाई ने सोचा कि 'छिपे-

छिपे इलाज करने से यह गड़बड़ी हुई', और पति ने सोचा कि 'शुरू में ही अगर वे मेरे भाई की बात मान लेते तो ऐसा होता ही क्यों !' यह सोचकर दोनों अनुतप्त हृदय भीतर ही भीतर क्षमाप्रार्थी-से होकर परस्पर एक-दूसरे के अत्यन्त निकटवर्ती हो गए। मेरे पति भाई साहब की सलाह लेने लगे, और भाई साहब भी बड़े विनय के साथ सब विषय में मेरे पति की राय पर ही भरोसा करने लगे।

अन्त में दोनों की सलाह से एक दिन एक अंग्रेज डाक्टर ने आकर मेरी बाईं आंख में नश्तर लगाया। कमजोर आंख उस नश्तर की चोट को झेल न सकी, और उसकी रही-सही क्षीण ज्योति भी सहसा जाती रही। उसके बाद बची हुई दाहिनी आंख भी धीरे-धीरे अन्धकार से ढक गई। बचपन में ब्याह के दिन 'शुभदृष्टि' के समय जो चन्दन-चर्चित तरुण मूर्ति मेरी आंखों के सामने पहले-पहल प्रकट हुई थी, मेरे लिए उसपर हमेशा के लिए परदा पड़ गया।

एक दिन मेरे प्राणनाथ ने मेरे पलंग के पास बैठकर कहा, "अब मैं तुम्हारे सामने अपनी झूठी बड़ाई न करूंगा—तुम्हारी आंखें मैंने ही ले लीं!"

मालूम हुआ, उनके कण्ठ में आंसू भर आए हैं। मैंने दोनों हाथों से उनका दाहिना हाथ मसककर कहा, "अच्छा किया, तुम्हारी चीज़ तुमने ले ली। सोचो तो जरा, अगर किसी डाक्टर के इलाज से मेरी आंखें जाती रहतीं, तो उससे मुझे क्या सांत्वना मिलती! होनहार जब कि मिटती ही नहीं, तो आंखें तो मेरी कोई बचा ही नहीं सकता था, वे आंखें तुम्हारे हाथ से गईं, मेरे अन्धेपन का सबसे बड़ा सुख तो यही है! जब पूजा के पुष्प घट गए थे तो स्वयं रामचन्द्र अपने देवता को अपनी आंखें उपाड़कर चढ़ाने को तैयार हो गए थे। मैंने अपने देवता को अपनी दष्टि दी है, इससे बढ़कर सौभाग्य मेरे लिए और क्या हो सकता है! तुम्हें अपनी आंखों से जब जो अच्छा लगे, मुझसे कह दिया करना, उसे मैं तुम्हारी आंखों-देखा प्रसाद जानकर मन में रख लिया करूंगी।"

मैं इतनी बातें नहीं कह सकी थी, मुंह से इस तरह की बातें शायद कहीं भी नहीं जा सकतीं। हां, सिर्फ इन बातों को मैं बहुत दिनों तक मन में विचारती रही हूं। बीच-बीच में ऐसी थकावट आती थी कि मेरी उस निष्ठा का तेज भी मन्द पड़ जाता। मैं अपने को वंचित,

दुःखित और दुर्भाग्य-दग्ध अभागिनी समझने लगती, और तब मैं अपने मन से ये सब बातें कहला लेती। मैं अपनी इस शान्ति और भक्ति की सहायता से अपने को दुःख से भी ऊंचा रखने की कोशिश करती रहती। उस दिन बातों ही बातों में और कुछ-कुछ चुप रहकर अपने मन के भाव को शायद मैं उन्हें किसी तरह समझा सकी थी।

उन्होंने कहा, "कुमुद, अपनी मूर्खता से मैं जो कुछ तुम्हारा नष्ट कर चुका हूं उसे अब मैं तुम्हें वापस नहीं दे सकता, किन्तु जहां तक मेरा बस चलेगा, तुम्हारी आंखों की कमी दूर करने के लिए मैं हमेशा तुम्हारे साथ-साथ रहूंगा।"

मैंने कहा, "यह कोई काम की बात नहीं हुई। तुम अपनी घर-गृहस्थी को अन्धों का अस्पताल बना रखोगे, यह मैं हरगिज़ न होने दूंगी। तुम्हें दूसरा ब्याह करना ही होगा।"

किसलिए दूसरा ब्याह करना ज़रूरी है, इस बात को विस्तार से कहने के पहले ही मेरा गला रुक-सा आया। ज़रा खांसकर, ज़रा कुछ सम्हलकर, मैं कुछ कहना ही चाहती थी कि इतने में मेरे पति उच्छ्वसित आवेग के साथ बोल उठे, "मैं मूढ़ हूं, किन्तु दाम्भिक नहीं हूं, कुमू ! मैंने अपने हाथों से अन्धा बनाया है तुम्हें, उसपर सिर्फ अन्धी होने की वजह से तुम्हें छोड़कर अगर मैं दूसरा ब्याह करूं, तो अपने इष्टदेव गोपीनाथ की सौगन्ध खाकर कहता हूं, मैं ब्रह्म हत्या और पितृ-हत्या के पाप से पातकी होऊं।"

इतनी बड़ी सौगन्ध उन्हें मैं हरगिज़ न खाने देती, उन्हें मैं बीच ही में रोक देती ; किन्तु, मेरे आंसू उस समय छाती फाड़कर, कण्ठ दबाकर, आंखों में आकर झरना चाहते थे, मैं उन्हें रोकने में ही लगी हुई थी, मुंह से कुछ निकाल ही न सकी। उन्होंने जो कुछ कहा, उसे सुनकर मैं परम आनन्द के और चरम सुख के उद्वेग से तकिये में मुंह छुपाकर रोने लगी। मैं अन्धी हूं, फिर भी वे मुझे नहीं छोड़ेंगे ! दुख की तरह मुझे अपने हृदय में छिपा रखेंगे ! इतना सुहाग, इतना सौभाग्य मैं नहीं चाहती, पर मन जो स्वार्थी ठहरा !

अन्त में, आंसुओं की पहली वर्षा ज़ोरों से हो चुकने के बाद, उनके मुंह को अपनी छाती के पास लाकर मैंने कहा, "ऐसी कड़ी सौगन्ध क्यों खाई तुमने ? हाय-हाय, मैंने क्यों तुम्हें अपने सुख के लिए ब्याह करने को कहा था ! सौत से मैं अपना मतलब साधती। आंखों की कमी से

तुम्हारा जो काम मुझसे न होता वह काम मैं उससे करा लेना चाहती थी।"

उन्होंने कहा, "काम तो दासी भी कर देती है, कुमू! मैं क्या अपने काम के सुभीते के लिए एक दासी के साथ ब्याह करके उसे अपनी इस देवी के साथ एक आसन पर बिठा सकता हूं!" यह कहते हुए उन्होंने मेरा मुंह उठाकर मेरे ललाट पर एक चुम्बन रख दिया। उस चुम्बन ने मानो मेरा तीसरा नेत्र खोल दिया। मानो उसी क्षण मेरा देवी के रूप में अभिषेक हो गया। मैंने मन ही मन कहा, 'यही अच्छा है। जब अन्धी ही हो चुकी हूं, तो बाहर की इस घर-गृहस्थी की गृहिणी ही क्यों बनी रहूं! अब तो मैं उससे भी ऊपर रहकर, देवी होकर पति का मंगल करूंगी। अब झूठ नहीं, छल नहीं, गृहिणी-रमणी की जितनी भी क्षुद्रताएं हैं, जितने भी छल-छन्द हैं, सबको दूर करके, भीतर से, बाहर से बिलकुल पवित्र हो जाना है मुझे।"

उस दिन, दिन-भर अपने ही साथ मेरा एक तरह का विरोध चलता रहा। कठिन प्रतिज्ञा में बंधकर मेरे पति हरगिज़ दूसरा ब्याह न कर सकेंगे,···इसका आनन्द भीतर ही भीतर मानो मेरे हृदय को काटता रहा। उसे किसी भी तरह छुड़ाकर अलग न कर सकी। आज मेरे अन्दर जिस नवीन देवी का अविर्भाव हुआ है, उसने कहा, 'शायद ऐसा भी दिन आ सकता है कि जब प्रतिज्ञा पालने की अपेक्षा ब्याह करने से तुम्हारे पति का ज़्यादा मंगल हो सकता है।' किन्तु मेरे अन्दर जो पुरानी नारी थी उसने कहा, 'इससे क्या, जब कि वे प्रण कर चुके हैं, तब तो ब्याह कर ही नहीं सकते।' देवी बोली, 'पर इसमें तुम्हारे खुश होने की तो कोई वजह नहीं।' मानवी ने कहा, 'सब समझती हूं, पर जबकि वे प्रतिज्ञा कर चुके हैं, तो फिर'···इत्यादि। बार-बार वही एक ही बात! तब फिर देवी ने कुछ नहीं कहा, वह चुप बनी रही, उसने भौंहें चढ़ा लीं। किसी एक भयंकर आशंका के अन्धकार से मेरा सारा अन्तःकरण आच्छन्न हो गया।

मेरे अनुत्तप्त स्वामी, नौकर-नौकरानियों से मेरा काम करने की मनाही करके, खुद ही मेरा सब काम करने लगे। ज़रा-ज़रा-सी बात के लिए इस तरह पति पर निर्भर रहना, पहले तो अच्छा ही लगने लगा। कारण, इसी बहाने उन्हें हर वक्त अपने पास पाती। आंखों से मैं उन्हें देख नहीं सकती थी, इसलिए हमेशा उन्हें अपने पास पाने की

हवस बहुत ज़्यादा बढ़ गई। पति के चेहरे का जो हिस्सा मेरी आंखों को मिला था उसे अब अन्य इन्द्रियां आपस में बांटकर अपना हिस्सा बढ़ा लेने की कोशिश करने लगीं। फिर ऐसा हो गया कि मेरे पति अगर बहुत देर तक बाहर किसी काम के लिए चले जाते, तो ऐसा मालूम होता कि जैसे मैं बिलकुल शून्य में हूं, और अपने चारों तरफ टटोलती फिरती हूं, फिर भी मुझे कहीं भी कुछ मिल नहीं रहा है: मानो मेरा सब कुछ खो गया हो। पहले, पति जब कालेज जाते थे तब उनके आने में देर होती तो मैं सड़क की तरफ की खिड़की को ज़रा खोलकर उनकी संध में से उनकी राह देखा करती थी। जिस दुनिया में वे घूमा-फिरा करते थे उस दुनिया को मैंने अपनी आंखों से अपने साथ बांध रखा था, पर आज मेरा दृष्टिहीन सारा शरीर उन्हें ढूंढ़ने की कोशिश करता रहता है। उनकी दुनिया के साथ मेरी दुनिया का जो पुल बंधा हुआ था, आज वह टूट गया है। अब, उनके और मेरे बीच एक गहरी 'अन्धता की खाई' है—अब मुझे केवल निरुपाय व्यग्रता के साथ बैठा रहना पड़ता है कि 'कब वे अपने उस पार से मेरे इस पार आकर मुझसे मिलें।' इसलिए अब, जब वे क्षण-भर के लिए भी मुझे छोड़कर चले जाते हैं तो मेरा सारा अन्धा शरीर उद्यत होकर उन्हें पकड़ना चाहता है, हाय-हाय करके उन्हें पुकारने लगता है।

किन्तु इतनी आकांक्षा, इतनी चाह, इतना आसरा-भरोसा तो अच्छा नहीं होता। एक तो वैसे ही पति पर स्त्री का भार काफी होता है, उसपर अपने इस अन्धेपन का भारी बोझ उनपर लादना ठीक नहीं। अपने इस विश्वव्याप्त अन्धकार को मैं अकेली ही झेलूंगी, अकेली ही ढोऊंगी। मैंने एकाग्र मन से यही प्रतिज्ञा की कि अपनी इस अनन्त अन्धता की रस्सी से पति को मैं अपने साथ बांधकर हरगिज़ नहीं रखूंगी। थोड़े ही दिनों में केवल शब्द-गन्ध-स्पर्श से ही मैंने अपना सारा काम करना सीख लिया। यहां तक कि बहुत-से घर के काम तो मैं पहले से भी ज़्यादा निपुणता के साथ करने लगी। और बाद में तो ऐसा मालूम होने लगा कि दृष्टि हमारे काम में जितनी सहायता पहुंचाती है उससे कहीं ज़्यादा हमें विक्षिप्त कर देती है। जितना देखने से भलाई होती है, आंखें उससे बहुत ज़्यादा देखा करती हैं। और आंखें जब पहरा देने का काम करती हैं कान तब आलसी हो जाते हैं; जितना उन्हें सुनना चाहिए उससे वे कम ही सुनते हैं। अब चंचल आंखों की

अनुपस्थिति में मेरी और सब इन्द्रियां अपना कर्तव्य शान्ति के साथ पूरा पालन करने लगीं।

अब मैं अपने पति को अपना कोई भी काम नहीं करने देती, बल्कि उनका सारा काम फिर मैं पहले की तरह ही करने लगी।

स्वामी ने मुझसे कहा, "मेरे प्रायश्चित से तुम मुझे वंचित कर रही हो।"

मैंने कहा, "तुम्हारा प्रायश्चित कैसा, सो तो मुझे नहीं मालूम—किन्तु अपने पाप का भार मैं क्यों बढ़ाऊं?"

मुंह से चाहे वे कुछ कहें, मैंने जब उन्हें मुक्ति दी तो वे सांस लेकर मानो जी-से गए।

उसके बाद, मेरे पति डाक्टरी पास करके मुझे साथ लेकर कलकत्ते के बाहर देहात में चले गए। गांव में जाकर ऐसा मालूम हुआ जैसे मैं मां की गोद में पहुंच गई होऊं। आठ बरस की उमर में गांव छोड़कर कलकत्ता आई थी। इस बीच में, दस बरस में जन्मभूमि मेरे मन के अन्दर छाया की तरह अस्पष्ट हो चली थी। जब तक आंखें थीं, कलकत्ता शहर मेरे चारों तरफ मेरी सम्पूर्ण स्मृतियों को अपनी ओट में छिपाए खड़ा था। आंखों के जाते ही मैं समझ गई कि कलकत्ता सिर्फ आंखों को बहलाए रखनेवाला शहर है, और बाल्यकाल का वह गांव अंधरिया रात के चमकते हुए तारे की तरह मेरे मन में उज्ज्वल हो उठा।

अगहन के अन्त में हम लोग हासिमपुर पहुंच गए। नई जगह थी। चारों तरफ कैसा दृश्य है, मैं कुछ देख न सकी; किन्तु बचपन के गांव की उस गन्ध ने, उन अनुभूतियों ने मेरी सारी देह जकड़ लीं। ओस से भीगे और नये जुते खेतों से आनेवाली सुबह की हवा ने, अरहर और सरसों के हरे-सुनहले खेतों की आकाश-भरी मीठी सुगन्ध ने, अहीरों के उन गीतों ने, और तो क्या, टेढ़ी-मेढ़ी कच्ची सड़क से जानेवाली बैलगाड़ियों के चलने की आवाज़ तक ने मुझे पुलकित कर दिया। मेरी वे जीवन-आरम्भ की अतीत स्मृतियां अपनी अनिर्वचनीय ध्वनि और सुगन्ध लिए प्रत्यक्ष वर्तमान की तरह मुझे घेर बैठीं। अन्धी आंखें उनका कुछ भी प्रतिवाद न कर सकीं। मैं अपने उसी बचपन में पहुंच गई। सिर्फ मां ही नहीं मिली, और सब मिल गया। भीतर ही भीतर मैं देखने लगी, मेरी दादी अपने बचे-खुचे सिर के बालों को खोलकर,

धूप की ओर पीठ करके, बैठी-बैठी 'बड़ी' दे रही हैं। पर उनके कांपते हुए पुराने कमज़ोर कण्ठ से गांव के साधु भजनदास के देहतत्त्व-सम्बन्धी गीत की गुनगुनाहट आज नहीं सुनाई दी। नवान्न का वह उत्सव शीत ऋतु के ओस से नहाए हुए आकाश में सजीव होकर उठ बैठा, किन्तु मूसल से नये धान कूटनेवाली गांव की औरतों में मेरी उन छोटी-छोटी सहेलियों का समागम कहां गया। शाम होते ही जब पास में कहीं 'हुम्बा' ध्वनि सुनाई पड़ती तो याद उठ आती कि मां सन्ध्या-दीप हाथ में लिए ग्वालघर में दिया दिखाने जा रही हैं। साथ ही मानो भीगे पुआल के जलने की गन्ध और धुआं आकर मेरे हृदय में प्रवेश करता, और फिर सुनाई देती तालाब के उस पार के विद्यालंकारों के मन्दिर से आती हुई कांसर घण्टे की ध्वनि। न जाने किसने मेरे बचपन के आठ वर्षों में से उनका सारा सार-अंश छानकर सिर्फ उसका रस और सुगन्ध मेरे चारों तरफ छोड़ दी है।

इसी सिलसिले में बचपन के व्रत और सवेरे ही उठकर शिव-पूजा के लिए फूल चुनने की बात याद आने लगती है। यह बात माननी ही पड़ेगी कि कलकत्ता में इधर-उधर की बातचीत और आवागमन की गड़बड़ी से बुद्धि में थोड़ा-बहुत फर्क आ ही जाता है। धर्म-कर्म, भक्ति और श्रद्धा में गांव की-सी निर्मल सरलता नहीं रहती।

उस दिन की बात मुझे याद आती है जिस दिन अंधी हो जाने के बाद कलकत्ता में मेरी एक ग्रामवासिनी सखी ने आकर मुझसे कहा था, "तुझे गुस्सा नहीं आता, कुमू? मैं होती तो अपने पति का कभी मुंह ही नहीं देखती।" मैंने कहा, "बहन, मुंह देखना तो वैसे ही बन्द है, उसके लिए इन जली आंखों पर ही गुस्सा आता है। उनपर गुस्सा क्यों होऊं, बहन!"

समय रहते अच्छे डाक्टर से इलाज नहीं कराया इसके लिए मेरी सहेली लावण्य को भी मेरे पति पर बहुत गुस्सा आया; और उसने मुझे भी गुस्सा दिलाने की कोशिश की।

मैंने उसे समझाया कि 'संसार में रहते हुए इच्छा और अनिच्छा से, जान और अनजान में, भूल और भ्रान्ति से अनेक प्रकार के सुख-दुःख हुआ करते हैं, किन्तु मन के भीतर अपने पति को अगर स्थिर रख सकी, तो उस दुःख में भी एक तरह की शान्ति मिलती है। नहीं तो सिर्फ गुस्से-गुस्सा में बक-झक करते-करते ही जीवन बीत जाता है।

आंखों से अंधी हो गई, यही एक ज़बरदस्त दुःख है, उसपर पति से मनमुटाव करके दुःख का बोझ और क्यों बढ़ाऊं?' मुझ जैसी लड़की के मुंह से पुराने ज़माने की-सी बात सुनकर लावण्य गुस्सा होकर अवज्ञा से सिर हिलाकर झुंझलाती हुई चली गई।

किन्तु, मुंह से मैं कुछ भी क्यों न कहूं, उसकी बातों में ज़हर तो था ही, उसकी बात बिलकुल व्यर्थ नहीं गई। लावण्य के मुंह से निकली हुई क्रोध की बातों ने मेरे मन पर दो-एक चिनगारियां छोड़ दी थीं। मैंने उन्हें पैरों से कुचलकर बुझा तो दिया, किन्तु फिर भी, दो-एक छाले तो रह ही गए।

गांव में आकर शिव-पूजा के उस शीतल शेफाली-फूल की सुगन्ध से मेरे हृदय की सम्पूर्ण आशाएं और श्रद्धा, मेरे उस शिशुकाल की तरह ही, मानो नवीन और उज्ज्वल हो उठीं। देवता ने मेरे हृदय और मेरी घर-गृहस्थी को परिपूर्ण कर दिया। मैं मस्तक नवाकर उनके चरणों पर लोट गई। कहा, "हे देव, मेरी आंखें जाती रहीं, अच्छा ही हुआ, तुम तो मेरे हो।"

किन्तु हाय, गलत कहा था मैंने। 'तुम मेरे हो' ऐसा कहना भी दर्प है। 'मैं तुम्हारी हूं', केवल इतना ही कहने का हक है मुझे। अरे, एक दिन मेरे देवता ही दबे कण्ठ से यह बात मुझसे कहला लेंगे। हो सकता है कि तब और कुछ भी न रहे, पर मुझे तो रहना ही होगा। किसी पर किसी तरह का मेरा ज़ोर नहीं, सिर्फ अपने ही ऊपर है।

कूछ दिन बड़े आनन्द से बीते। उधर डाक्टरी में मेरे पति का नाम भी होने लगा, प्रतिष्ठा भी बढ़ने लगी। साथ ही कुछ रुपया भी इकट्ठा हो गया। मगर रुपया अच्छी चीज़ नहीं। वह मन को दबा देता है, हृदय को ढक देता है। मन जब राज्य करता है तो वह अपना सुख आप ही गढ़ लेता है, किन्तु धन जब सुख-संचय का भार लेता है तो मन के लिए फिर कोई काम ही नहीं रह जाता। तब, पहले जहां मन का सुख रहता था, घर की चीज़, बस्त, असबाब वगैरह उस जगह को घेर लेता है। तब सुख नहीं मिलता, सुख के बदले मिलता है, सिर्फ असबाब वगैरह।

मैं किसी खास बात या खास घटना का उल्लेख नहीं कर सकती। किन्तु अन्धों में अनुभव-शक्ति कुछ ज़्यादा होने से या और किसी

कारण से इतना मुझे अनुभव होने लगा कि आर्थिक उन्नति के साथ-साथ मेरे पति में परिवर्तन होने लगा है। यौवनारम्भ की तरह अन्यान्य धर्म-अधर्म के विषय में उनमें जो एक वेदना की अनुभूति थी उसमें मानो दिनों-दिन जड़ता आने लगी। मुझे याद है, वे किसी समय कहा करते थे, 'केवल आजीविका के लिए ही डाक्टरी सीख रहा होऊं सो बात नहीं, इससे गरीबों का उपकार भी किया जा सकता है।' जो डाक्टर गरीब मरीज़ों के दरवाजे पर जाकर पेशगी फीस बिना लिए नाड़ी नहीं देखना चाहते उनका ज़िक्र करते हुए मारे घृणा के उनकी ज़बान रुक जाती थी।

मैं समझ रही हूं कि अब वे दिन नहीं रहे। अपने इकलौते लड़के की जान बचाने के लिए एक गरीब स्त्री ने उनके पैर पकड़ लिए थे, गिड़गिड़ाकर रोने लगी थी वह, किन्तु उन्होंने उसकी उपेक्षा की। अन्त में मैंने अपने सर की कसम देकर उन्हें भेजा, पर उन्होंने तबियत से उसका इलाज नहीं किया। जब हम लोगों के पास रुपया कम था तब अन्याय से उपार्जित धन को वे किस दृष्टि से देखते थे, मैं जानती हूं। मगर अब, अब बैंक में बहुत रुपये जमा हैं। अब, एक दिन की बात है कि एक धनी आदमी का गुमाश्ता आकर एकान्त में उनसे दो दिन तक बहुत-सी बातें कर गया। क्या बातचीत हुई मुझे नहीं मालूम किन्तु उसके बाद जब वे मेरे पास आए और अत्यन्त प्रफुल्लता के साथ और-और विषयों में बहुत-सी बातें करने लगे, मुझे अपने अन्तःकरण की स्पर्शशक्ति से मालूम हुआ कि आज वे अपने ऊपर कलंक पोतकर आए हैं।

अन्धी होने के पहले जिन्हें मैंने अन्तिम बार देखा था, आज मेरे वे हृदय-देवता कहां हैं? जिन्होंने मेरी दृष्टिहीन दोनों आंखों के बीच में चुम्बन करके मुझे एक दिन देवी के पद पर अभिषिक्त किया था, मैं उनका क्या कर सकी? एक ही दिन की रिपु की आंधी से जिनका अकस्मात् पतन होता है, और एक दिन के हृदयावेग से फिर वे चढ़ सकते हैं; किन्तु यह जो दिन पर दिन क्षण-क्षण में भीतर से कठोर होते जाना है, बाहरी बातों में बढ़ते हुए हृदय-मन को तिल-तिल करके दबाते जाना है, इसका प्रतिकार सोचती हूं तो कोई राह ही ढूंढ़े नहीं मिलती।

पति के साथ मेरा जो आंखों से देखने का विच्छेद हुआ है वह कुछ

भी नहीं, किन्तु प्राणों के भीतर तब मैं और भी ज्यादा हांफने लगती हूं, तब मैं समझती हूं कि जहां मैं हूं वहां वे नहीं हैं। मैं अन्धी हूं, संसार के प्रकाशहीन हृदय-प्रदेश में अपनी उस पहली उमर के नवीन प्रेम, परिपूर्ण भक्ति, अखण्ड विश्वास को लिए बैठी हूं मैं, अपने देव-मन्दिर में जीवन के आरम्भ में अपने बचपन के उन नन्हे-नन्हे हाथों से मैंने जो हरसिंगार फूलों के अर्घ्य चढ़ाए थे, अभी तो उनकी ओस भी न सूख पाई होगी कि मेरे नाथ छाया से शीतल इस चिर नवीनता के देश को छोड़कर रुपये कमाने के पीछे इस संसार-मरुभूमि में न जाने कहां अदृश्य होते चले जा रहे हैं! जिनपर मेरा विश्वास है, मैं जिन्हें धर्म कहती हूं, जिन्हें मैं समस्त सुख-सम्पत्ति से बढ़कर समझती हूं, वे बहुत दूर से मेरी ओर हंसते हुए देख-भर रहे हैं। पर, कोई दिन ऐसा भी था जब यह विच्छेद नहीं था। बचपन में हम दोनों ने एक ही मार्ग से यात्रा की थी। उसके बाद कब से मार्ग-भेद होना आरम्भ हुआ, उसे न तो वे ही समझ सके और न मुझे ही मालूम हुआ। अन्त में, आज जब मैं उन्हें पुकार रही हूं तो कोई जवाब ही नहीं मिलता।

कभी-कभी मैं सोचती हूं कि शायद अन्धी होने की वजह से मामूली-सी बात को मैं बढ़ा-चढ़ाकर देखती हूं। आंखें होतीं तो शायद मैं संसार को ठीक संसार की तरह ही देख सकती और पहचान सकती।

मेरे पति ने भी एक दिन मुझे यही बात समझाई थी। उस दिन सबेरे एक बूढ़ा किसान अपनी पोती को हैज़े से बचा लेने की उम्मीद से उन्हें बुलाने आया था। मेरे कानों में भनक पड़ी, वह कह रहा था, "बेटा, मैं बहुत गरीब हूं, पर परमात्मा तुम्हारा भला करेंगे।" मेरे हृदय-देवता ने कहा, "परमात्मा जो करेंगे, सिर्फ उतने ही से हमारा काम नहीं चलेगा। पहले तुम क्या करोगे सो बताओ।" सुनते ही मैं सोचने लगी, 'भगवान ने मेरी आंखें ले लीं, साथ ही कान भी क्यों नहीं ले लिए!' बूढ़े ने एक गहरी सांस ली, और 'हाय भगवान' कहकर चल दिया। मैंने उसी वक्त महरी से कहकर उसे पीछे के दरवाज़े से बुलवा लिया। उससे मैंने कहा, "यह लो, बाबा, इन रुपयों से तुम अपनी पोती का इलाज कराना, मेरे पति का भला चाहते हुए तुम इस मुहल्ले से हरीश डाक्टर को लेते जाओ।"

किन्तु दिन-भर मुझे कुछ भाया नहीं, मुंह में रुचा ही नहीं कुछ। तीसरे पहर सोते से उठकर उन्होंने पूछा, "तुम आज उदास क्यों दीख

रही हो ?" पहले-का सा अभ्यस्त उत्तर ज़बान पर आ रहा था कि 'नहीं तो, कुछ नहीं', पर छल-छन्द का ज़माना मेरा बीत चुका, मैंने साफ़-साफ़ कहा, "कितने ही दिनों से तुमसे कहना चाहती हूं पर कहते-कहते क्या कहना है सो भूल जाती हूं। मालूम नहीं, अपने मन की बात मैं ठीक तौर से समझा सकूंगी या नहीं, लेकिन तुम चाहो तो ज़रूर अपने मन में समझ सकते हो कि हम दोनों ने जिस तरह एक होकर जीवन आरम्भ किया था, आज वह कुछ और ही तरह का हो गया है।"

उन्होंने हंसकर कहा, "परिवर्तन ही तो संसार का नियम है।"

मैंने कहा, "रुपया-पैसा, रूप-यौवन, सभीका तो परिवर्तन होता है, किन्तु नित्य वस्तु क्या संसार में कुछ है ही नहीं ?"

तब उन्होंने ज़रा गम्भीर होकर कहा, "देखो, और-और स्त्रियां तो सचमुच के अभाव को रोती हैं—किसीका पति कमाई नहीं करता तो किसीका प्रेम नहीं करता, और एक तुम हो कि आसमान से दुःख ढूंढ़ लाती हो !"

मैं उसी वक्त समझ गई कि मेरी अन्धता मेरी आंखों में सचाई का अंजन लगाकर मुझे इस परिवर्तनशील संसार से बाहर ले गई है, मैं अन्य स्त्रियों की तरह नहीं हूं, मुझे मेरे पति समझेंगे नहीं।

इतने में, देश से एक फुफुआ सास चली आईं, अपने भतीजे की खबर-सुध लेने। हम दोनों ने उन्हें प्रणाम किया। आशीर्वाद देने के पहले ही वे बोल उठीं, "बहू, तुम तो अपनी तकदीर से अन्धी हो गईं, अब हमारा अविनाश अन्धी स्त्री को लेकर कैसे घर-गृहस्थी चलावे, बताओ ? उसका दूसरा ब्याह करा दो न !" इसपर मेरे पति अगर हंसी-हंसी में कह देते कि 'ठीक तो है, बुआजी, तुम्हीं लोग देख-भाल कर कोई सम्बन्ध ठीक करा दो', तो सब झगड़ा ही तय हो जाता। किन्तु उन्होंने संकोच के साथ कहा, "तुम तो, बुआजी, ऐसी ही बातें किया करती हो जिसका सिर न पैर !"

बुआजी ने कहा, "क्यों, बेटा, क्या कह रही हूं मैं ? अच्छा, बहू, तुम्हीं बताओ, इसमें बेजा क्या कहा मैंने ?"

मैंने हंसते हुए कहा, "बुआजी, खूब अच्छे आदमी से तुम सलाह लेने बैठीं ! जिसकी गांठ काटी जाएगी उसीसे राय पूछी जाती है कहीं ?"

बुआजी बोलीं, "हां, बात तो ठीक है। तो फिर हम दोनों अकेले में सलाह करेंगे, क्यों रे अविनाश? लेकिन एक बात है, बहू, कुलीन-घर की स्त्रियों की जितनी ज़्यादा सौतें हों उतना ही उनका स्वामी-गौरव बढ़ता है। हमारा लड़का डाक्टरी न करके अगर ब्याह करता रहता, तो उसे रोज़गार की पर्वाह ही क्या थी! रोगी डाक्टर के हाथ पड़ते ही मर जाता है, मरने पर फिर फ़ीस भी नहीं मिलती; किन्तु विधाता का श्राप ऐसा है कि कुलीन की स्त्री मरती ही नहीं, और जितने दिन वह जीती है उतना ही पति को फायदा ही फायदा है।"

दो दिन बाद मेरे पति ने मेरे सामने ही बुआजी से पूछा, "बुआजी, अपना समझकर बिलकुल अपनी-सी होकर बहू को मदद पहुंचाया करे, ऐसी कोई अच्छे घराने की स्त्री तुम्हारी निगाह में है जो यहां रह सके? इसे आंखों से दीखता नहीं, इसलिए इसकी साथिन बनकर हमेशा कोई इसके पास रहे तो मैं निश्चिन्त हो जाऊं।"

मैं जब शुरू-शुरू में अन्धी हुई थी तब वे यह बात कहते तो ठीक भी था, किन्तु अब तो आंखों के अभाव में अपने या घर-गृहस्थी के काम में कोई खास अड़चन होती हो सो भी नहीं; फिर भी बिना प्रतिवाद किए मैं चुपचाप बैठी रही। बुआजी ने कहा, "बहुत, बहुत! इसकी क्या कमी! मेरे ही जेठजी की एक लड़की है। जैसी देखने में सुन्दर, वैसी स्वभाव की भी लक्ष्मी! लड़की काफी बड़ी हो चुकी है, योग्य वर मिल नहीं रहा, लड़के की तलाश में हैं वे। तुम्हारे जैसा कुलीन मिल जाने पर तो वे तुरन्त ब्याह कर देंगे।"

उन्होंने कुछ चौंककर कहा, "ब्याह के लिए कौन कह रहा है!"

बुआजी बोलीं, "लो, सुन लो, ब्याह बिना किए क्या भले घर की लड़की तुम्हारे घर योंही आकर पड़ी रहेगी?"

बात बिलकुल ठीक थी। मेरे पति से उसका कोई जवाब देते न बना।

अपनी बन्द आंखों के अनन्त अन्धकार में अकेली खड़ी-खड़ी मैं ऊपर को मुंह उठाए पुकारने लगी, "भगवान मेरे पति की रक्षा करो।"

कुछ दिन बाद, एक रोज़ सवेरे मैं पूजा करके घर से निकल ही रही थी कि इतने में बुआजी ने आकर कहा, "बहू, अपनी जिस जेठौती हेमांगिनी का मैंने जिक्र किया था, आज वह आ गई देश से।—हिमू, ये तुम्हारी ज़ीजी हैं, इन्हें प्रणाम करो।"

इतने में अचानक कहीं से वे भी आ पहुंचे, और आते ही मानो वे इस अपरिचित स्त्री को देखकर लौट जाने के लिए उद्यत हुए।

बुआजी ने कहा, "कहां चला अविनाश ?"

मेरे पति ने पूछा, "ये कौन हैं ?"

बुआजी ने कहा, "यही तो है मेरी जेठौती हेमांगिनी !"

ये कब आईं, किसके साथ आईं, कैसे आईं—इत्यादि नाना प्रश्न करके वे अनावश्यक आश्चर्य प्रकट करने लगे। मैंने मन ही मन कहा, 'जो हो रहा है, सो तो मैं सब समझ रही हूं, फिर उसपर छल-छन्द क्यों किया जा रहा है, दुबका-चोरी, दाबना-ढकना, झूठी बात ? अगर अधर्म करना ही है तो करो न ! करोगे तो अपनी अशान्त प्रवृत्ति के लिए ही करोगे। मेरे लिए ऐसी हीनता, इतना छल-छन्द क्यों करते हो ? मुझे बहलाए रखने के लिए इतना ढकोसला क्यों ?'

हेमांगिनी का हाथ पकड़कर मैं उसे अपने सोने के कमरे में ले गई। उसके मुंह पर, गालों पर हाथ फेरकर देखा, मुंह शायद सुन्दर ही होगा। उमर भी चौदह-पन्द्रह से कम न होगी।

बालिका सहसा ज़ोर से हंस पड़ी। बोली, "यह क्या कर रही हो ? मेरे ऊपर से भूत झाड़ रही हो क्या ?" उसकी उस उन्मुक्त सरल हंसी से हम दोनों के बीच जो काले बादल थे वे एक क्षण में दूर हो गए। दाहिना हाथ उसके गले में डालकर मैंने कहा, "मैं तुम्हें देख रही हूं बहन !" इतना कहकर मैंने उसके कोमल मुंह पर फिर एक बार हाथ फेरा।

"देख रही हो !" कहकर वह फिर हंसने लगी। बोली, "मैं क्या तुम्हारे बगीचे की सेम हूं या बैंगन, जो इस तरह हाथ फेरकर देख रही हो कि कितनी बड़ी हुई ?"

तब मुझे सहसा खयाल आया कि हेमांगिनी को शायद मालूम नहीं कि मैं अन्धी हूं।"

मैंने कहा, "बहन, मैं अन्धी जो हूं।"

सुनते ही वह अचम्भे में पड़कर कुछ देर तक गम्भीर बनी रही। मुझे बिलकुल स्पष्ट मालूम हुआ कि उसने अपने कुतूहली तरुण विशाल नेत्रों से मेरे दृष्टिहीन नेत्र और चेहरे के भाव को खूब गहराई के साथ देखा, और उसके बाद कहा, "अच्छा ! इसीलिए शायद चाची को तुमने यहां बुलाया है ?" मैंने कहा, "नहीं, मैंने नहीं बुलाया, तुम्हारी चाची

अपने-आप ही आई हैं।"

बालिका फिर हंसकर बोली, "दया करके! तब तो मालूम होता है दयामयी जल्दी टरनेवाली नहीं! पर बापूजी ने मुझे क्यों भेजा?"

इतने में बुआजी आ गईं। अब तक मेरे पति के साथ उनकी बातचीत हो रही थी। बुआजी के कमरे में घुसते ही, हेमांगिनी ने उससे पूछा, "चाची, देश कब चलोगी, बताओ।"

बुआजी ने कहा, "वाह री लड़की! आते देर न हुई, जाने की पड़ गई तुझे! ऐसी चंचल लड़की तो मैंने कहीं नहीं देखी!"

हेमांगिनी ने कहा, "सुनो चाची, तुम तो जल्दी यहां से जाती नहीं दिखाई देतीं। खैर, तुम्हारा तो यह घर ही ठहरा, जितने दिन चाहो, रहो तुम। पर मैं तो जाऊंगी, पहले ही से कहे देती हूं तुमसे!" इतना कहकर चट से उसने मेरा हाथ पकड़कर कहा, "क्यों बहन, ठीक है न? तुम लोग तो मेरे ठीक अपने नहीं हो?"

उसके इस सरल प्रश्न का कुछ उत्तर न देकर मैंने उसे अपनी छाती के पास खींच लिया। मैंने देखा कि बुआजी वैसे चाहे कितनी ही ज़बरदस्त क्यों न हों, पर इस लड़की को सम्हालना उनके बूते से बाहर है। बुआजी ने ऊपर से ज़रा भी गुस्सा न दिखाकर हेमांगिनी को लाड़ करने की कोशिश की, पर उसने उसे अपने ऊपर से झाड़कर फेंक दिया। बुआजी ने इन सब बातों को लाड़ली लड़की का लाड़ समझकर हंसकर उड़ा देना चाहा, और वे चली जा रही थीं कि इतने में फिर न जाने क्या सोचकर लौट आईं, और हेमांगिनी से कहने लगीं, "चल तेरे नहाने का वक्त हो गया।"

हेम ने मेरे पास आकर कहा, "हम दोनों जनी घाट पर जाकर नहाएंगी, क्यों बहन?"

बुआजी की इच्छा के विरुद्ध होने पर भी उन्होंने इस बात का विरोध नहीं किया, वे जानती थीं कि धींगा-धींगी करने से हेमांगिनी की ही जीत होगी, और दोनों के बीच का विरोध भद्दे रूप में मेरे सामने प्रकट हो जाएगा।

पीछे के तालाब की तरफ जाने-जाते हेमांगिनी ने मुझसे पूछा, "तुम्हारे कोई लडका-बाला क्यों नहीं हुआ, बहन?"

मैंने ज़रा मुस्कराकर कहा, "क्यों नहीं हुआ, सो मैं कैसे कह सकती हूं? भगवान ने नहीं दिया।"

हेमांगिनी बोली, "ज़रूर तुमने पहले जन्म में कोई पाप किया होगा।"

मैंने कहा, "सो भी भगवान जानते होंगे।"

बालिका ने प्रमाण के तौर पर कहा, "देखो न चाची को। मन की बहुत काली हैं न वे, इसीसे उनकी कोख से कोई बच्चा ही नहीं होता।"

पाप-पुण्य, सुख-दुःख, दण्ड और पुरस्कार का सिद्धान्त मैं खुद भी नहीं समझती, बालिका को भी समझाने की कोशिश नहीं की। सिर्फ एक गहरी सांस लेकर मैंने मन ही मन उससे कहा, 'तुम्हीं जानो।' हेमांगिनी उसी क्षण मुझसे लिपट गई, और हंसकर बोली, "अरे वाह रे, मेरी बात सुनकर भी तुम गहरी सांस लेती हो। मेरी बात पर भला कोई ध्यान देता होगा!"

धीरे-धीरे मालूम होने लगा कि मेरे पति के डाक्टरी व्यवसाय में बड़ी बाधाएं पड़ने लगी हैं। दूर से बुलावा आने पर तो वे जाते ही नहीं, और आसपास कहीं से बुलावा आने पर वे झटपट काम खतम करके चले जाते हैं। पहले तो काम से फुरसत मिलने पर दोपहर को खाने और सोने के समय सिर्फ भीतर जाते थे, पर अब तो बुआजी चाहे जब उन्हें बुला भेजतीं और वे भी बगैर ज़रूरत बुआजी की खबर-सुध लेने चले आते हैं। बुआजी जब पुकारकर कहतीं कि 'हिमू, मेरा पानदान तो ले आ ज़रा,' तो मैं समझ जाती कि बुआजी के कमरे में मेरे स्वामी मौजूद हैं। पहले-पहल दो-चार दिन तक हेमांगिनी पान-दान, तेल की प्याली, सिन्दूर की डिबिया आदि लेकर पहुंचाती रही किन्तु बाद में वह बार-बार बुलाई जाने पर भी खुद न जाकर महरी के हाथ ही सब चीज़ें भेजने लगी। बुआजी बुलातीं, 'हेमांगिनी, हिमू, हिमी!' पर बालिका मानो मेरे प्रति अपने एक करुणा के आवेग से मुझसे उलझी ही रहती, एक तरह की आशंका और बिषाद उसे घेरे रहता। और इसके बाद से तो वह भूलकर भी मेरे सामने मेरे पति का ज़िक्र तक न करती।

इतने में, एक दिन भाई साहब मुझे देखने आए। मैं समझती थी कि भइया की दृष्टि तीक्ष्ण है—यहां क्या हो रहा है, उनसे छिपाना लगभग असम्भव है, क्योंकि वे बड़े कठोर विचारक हैं; वे अन्याय पर

रत्ती-भर भी रहम करना नहीं जानते । सबसे ज़्यादा डर मुझे इस बात का था कि मेरे स्वामी उन्हींके सामने अपराधी के रूप में खड़े होंगे। मैंने अतिरिक्त प्रसन्नता दिखलाकर सब कुछ को ढक रखा। मैंने ज़्यादा बातें करके, ज़्यादा उतावली दिखाकर, बहुत ज़्यादा धूमधाम मचाकर चारों ओर मानो एक तरह की धूल उड़ा रखने की कोशिश की। किन्तु मेरे लिए यह सब इतना अस्वाभाविक सिद्ध हुआ कि वही मुझे पकड़वा देने का कारण बन गया। किन्तु भाई साहब ज़्यादा दिन ठहर न सके। मेरे पति ऐसी अस्थिरता दिखाने लगे कि प्रकट रूप से उसने रूक्षताका रूप धारण कर लिया। भइया चले गए। जाने के पहले अपने हृदय के सम्पूर्ण स्नेह के साथ मेरे माथे पर बहुत देर तक अपना कांपता हुआ हाथ रखे रहे, और मन ही मन एकाग्र चित्त से क्या आशीर्वाद देते रहे सो मैं समझ गई। उनके आंसू मेरे आंसू से भीगे हुए गालों पर आ-आकर गिरने लगे।

स्पष्ट याद है मुझे, चैत के दिन थे। उस दिन शाम के वक्त लोग हाट से लौटकर आ रहे थे। दूर से वर्षा को लिए हुए एक आंधी चली आ रही थी, उसकी हाल की भीगी मिट्टी की महक और हवा की नमी से आकाश व्याप्त हो रहा था। बिछुड़े हुए साथी लोग अंधेरे मैदान में एक-दूसरे को व्याकुल होकर ऊंचे स्वर से बुला रहे थे। मुझ अन्धी के कमरे में, जब तक मैं अकेली रहती, दिया नहीं जलाया जाता, इस डर से कि कहीं उसकी लौ लगाकर मैं कपड़े न जला लूं, और कोई दुर्घटना न हो जाए। मैं अपने सुनसान अन्धेरे कमरे में धरती पर बैठी-बैठी दोनों हाथ जोड़कर अपनी अन्धी दुनिया के मालिक को पुकार रही थी, 'प्रभो, जब तुम्हारी दया अनुभव में नहीं आती और तुम्हारा अभिप्राय जब समझ में नहीं आता, तब अपने अनाथ भग्न हृदय की पतवार को मैं जी-जान से थामकर उसे छाती से लगा लेती हूं। छाती फाड़कर खून की धारा बह निकलती है, फिर भी तूफान से उसे नहीं बचा सकती। मेरी अब और कितनी परीक्षा करोगे, मुझमें अब बल ही कितना है!' यह कहते-कहते भीतर से आंसू उमड़ आए, और मैं खाट पर सिर रखकर रोने लगी। तमाम दिन मुझे घर का काम-काज करना पड़ता है, हेमांगिनी छाया की तरह मेरे पास ही पास बनी रहती है। छाती के भीतर जो आंसू उमड़-उमड़ आते हैं उन्हें आंखों तक लाकर बाहर निकाल देने का भी मौका मुझे नहीं मिलता। बहुत दिन बाद आज

आंखों से आंसू निकले। इतने में मालूम हुआ कि खाट कुछ हिली, और किसीके हिलने की धमक-सी सुनाई दी। दूसरे ही क्षण हेमांगिनी आकर मेरे गले से लिपट गई, और चुपचाप अपने आंचल से मेरी आंखें पोंछने लगी। आज शाम से ही वह क्या सोचकर और कैसे आकर मेरी खाट पर सो रही थी, मैं नहीं जान सकी। उसने न तो कुछ पूछा और न कुछ कहा। मैंने भी उससे एक शब्द नहीं कहा। धीरे-धीरे मेरे माथे पर अपना ठण्डा हाथ फेरने लगी।

इस बीच में कब बादल गरजे, कब ज़ोर की आंधी आई और खूब वर्षा भी हो गई, मुझे कुछ खबर ही न पड़ी। बहुत दिन बाद एक स्निग्ध शान्ति ने आकर ज्वर के दाह से झुलसे हुए मेरे हृदय को शान्त कर दिया।

दूसरे दिन हेमांगिनी ने बुआजी से कहा, "चाची, मैं पहले से कहे देती हूं, अगर तुम देश न चलोगी तो मैं कैवर्त भइया के साथ चली जाऊंगी।"

बुआजी ने कहा, "उसके साथ जाने की क्या ज़रूरत, मैं कल जाऊंगी न। दोनों एकसाथ चलेंगी। और यह देख, हिमू, अविनाश ने तेरे लिए कैसी उमदा मोती की जड़ाऊ अंगूठी बनवा दी है!" इतना कहकर बड़े गर्व के साथ बुआजी ने अंगूठी हेमांगिनी के हाथ में दी।

हेमांगिनी ने कहा, "यह देख चाची, मैं कैसा अच्छा निशाना लगा सकती हूं।" और अंगूठी खिड़की में से पीछे के तालाब में फेंक दी। क्रोध से, दुःख से, आश्चर्य से बुआजी के रोंगटे खड़े हो गए। उन्होंने बार-बार खुशामद के साथ मुझसे कहा, "बहू, अविनाश से इसका ज़िक्र मत करना, नहीं तो बेचारा बड़ा दुःखी होगा। तुम्हें मेरे सिर की कसम है, बहू, कहना मत।"

मैंने कहा, "ज़्यादा कहने की जरूरत नहीं, बुआजी, मैं कोई भी बात नहीं कहूंगी।"

दूसरे दिन, देश रवाना होने से पहले हेमांगिनी ने मुझसे लिपटकर कहा, "जीजी, मुझे भूलना मत, याद रखना।"

मैंने बार-बार उसके मुंह पर दोनों हाथ फेरकर कहा, "अंधे कुछ भूलते नहीं, बहन! मेरी तो कोई दुनिया नहीं है, मैं तो सिर्फ अपने मन ही को लिए हुए हूं।" इतना कहकर मैंने उसके माथे को अपनी

ओर खींचकर चूम लिया। मेरी आंखों से उसके बालों पर झरझर आंसू झरने लगे।

हेमांगिनी के चले जाने पर मेरी दुनिया सूख-सी गई। उसने मेरे प्राणों में जो एक तरह की सुगन्ध, एक तरह का सौन्दर्य और संगीत, एक तरह का उज्ज्वल प्रकाश और कोमल तरुणता ला दी थी, सहसा उसके बिला जाने पर एक बार मैंने अपनी अंधेरी दुनिया में, अपने चारों तरफ, दोनों हाथ बढ़ाकर टटोल-टटोलककर देखा कि मेरा कहां क्या है।

उस दिन उन्होंने मेरे पास आकर विशेष प्रसन्नता दिखाते हुए मुझसे कहा, "ये लोग चली गईं, अब ज़रा काम-काज करने का समय मिलेगा।"

धिक्कार है, धिक्कार है मुझे! मेरे लिए इतनी चातुरी, इतना छल, इतना कपट! क्यों? मैं क्या सत्य से डरती हूं? मैं क्या चोट से कभी घबराई हूं? उन्हें क्या मालूम नहीं कि जब मैंने उनकी खुशी में अपनी ख़ुशी समझकर अपनी दोनों आंखें दी थीं तब मैंने अपने चिर अन्धकार को कितनी ख़ुशी से अपना लिया था?

अब तक मेरे और उनके बीच सिर्फ अन्धता का ही परदा था, पर आज से उसपर एक और परदा पड़ गया। मेरे पति भूलकर भी कभी हेमांगिनी का नाम मेरे सामने ज़बान पर नहीं लाते। मानो उनकी दुनिया से हेमांगिनी सदा के लिए एकदम लुप्त हो गई हो, मानो उनके मन पर उसने कभी भी ज़रा-सी लकीर तक न खींची हो! किन्तु इधर चिट्ठी-पत्री से वे हमेशा उसकी खबर पाते रहते हैं, इस बात का मैं अनायास ही अनुभव कर लिया करती हूं। जैसे, तालाब में बरसात का पानी जिस रोज़ ज़रा भी ज़्यादा आ जाता है उसी वक्त कमल के डण्ठल में खिचाव पड़ता है, उसी तरह उनके भीतर जिस दिन ज़रा भी बाढ़ आती, ज़रा भी उफान आता, उसी दिन अपने हृदय की जड़ में मुझे उसका पता लग जाता है। खिचाव ऐसी ही चीज़ है! कब उन्हें हेमांगिनी की खबर मिलती और कब नहीं, मुझसे कुछ छिपा नहीं रहता। किन्तु मैं उन्हें उसकी याद नहीं दिला सकती थी। मेरे अंधेरे हृदयाकाश में वह जो एक उन्मत्त, उद्दाम, उज्ज्वल, सुन्दर तारा क्षण-भर के लिए उदित हुआ था, उसकी ज़रा खबर पाने और थोड़ी-बहुत चर्चा करने के लिए मेरा जी प्यासा-सा बना रहता, किन्तु फिर भी

अपने पति के सामने क्षण-भर के लिए उसका नाम लेने का भी मुझे अधिकार न था। और इस तरह हम दोनों के बीच वाक्य और वेदना से भरी ऐसी एक तरह की नीरवता जमी बैठी थी जिसकी याद आते ही हृदय दुखने लगता है।

बैसाख महीने के बीचोंबीच एक दिन महरी ने आकर मुझसे पूछा, "बहूजी, नदी किनारे घाट पर आज अपनी नाव कहां के लिए तैयार हो रही है? बाबूजी कहीं जा रहे हैं क्या?"

मैं खुद समझ रही थी कि कुछ तैयारियां-सी हो रही हैं, और अब फिर मेरे भाग्याकाश में आंधी के पहले की-सी निस्तब्धता और उसके बाद प्रलय के छिन्न-विछिन्न बादल आ-आकर जम रहे हैं; और यह भी अनुभव कर रही थी कि स्वयं संहारकारी शंकर नीरव उंगली के इशारे से अपनी सारी प्रलय-शक्ति को मेरे सिर पर इकट्ठा कर रहे हैं। महरी से मैंने कहा, "कहां, मुझे तो अभी तक कोई खबर नहीं मिली!"

महरी ने फिर कुछ पूछने की हिम्मत नहीं की। एक गहरी सांस लेकर चली गई वह।

बहुत रात बीते पति ने आकर मुझसे कहा, "दूर से मेरा बुलावा आया है, सो कल सवेरे ही मुझे रवाना होना पड़ेगा। लौटने में दो-तीन दिन की देरी होगी।"

मैं तुरन्त बिस्तर से उठकर खड़ी हो गई, और बोली, "क्यों तुम मुझसे झूठ बोल रहे हो?"

पति ने कांपते हुए स्वर से कहा, "झूठ मैंने क्या कहा?"

मैंने कहा, "तुम ब्याह करने जा रहे हो!"

वे चुप रह गए। मैं ज्यों की त्यों स्थिर खड़ी रही। बहुत देर तक घर में बिलकुल सन्नाटा रहा। अन्त में मैंने कहा, "कुछ तो जवाब दो। कहो कि हां, मैं ब्याह करने जा रहा हूं!"

उन्होंने प्रतिध्वनि की भांति उत्तर दिया, "हां, मैं ब्याह करने जा रहा हूं।"

मैंने कहा, "नहीं, तुम नहीं जा सकते। मैं तुम्हें इस महासंकट से, इस महापाप से बचाऊंगी ही। इतना भी अगर न कर सकी, तो मैं तुम्हारी स्त्री ही किस बात की? किसलिए मैंने इतनी शिव-पूजा की

थी ?"

फिर बहुत देर तक सन्नाटा रहा। मैंने ज़मीन पर पड़कर उनके पैरों से लिपटकर कहा, "मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, कौन-सा अपराध किया है मैंने तुम्हारा, जो आज तुम्हें दूसरी स्त्री की ज़रूरत पड़ गई? तुम्हें मेरे सर की कसम है, सच-सच बताओ।"

तब मेरे स्वामी ने धीरे-धीरे कहा, "सच-सच ही कह रहा हूं। तुम्हारे अन्धेपन ने तुम्हें एक अनन्त आवरण में घेर रखा है, तुम तक मैं किसी भी तरह पहुंच ही नहीं पाता। तुम मेरी देवी हो, देवी के समान भयानक हो, तुम्हारे साथ मैं रोज़मर्रा की घर-गृहस्थी नहीं चला सकता। ऐसी एक साधारण स्त्री चाहिए मुझे कि जिसपर मैं बक-झक सकूं, गुस्सा हो सकूं, जिससे मैं प्यार कर सकूं, लाड़ कर सकूं, जिसे मैं गहने-कपड़े बनवा दे सकूं।"

"मेरी छाती के भीतर चीरकर देखो, मैं बिलकुल साधारण स्त्री हूं या नहीं! देखोगे, ब्याह के दिन की उस बालिका के सिवा और कुछ भी नहीं हूं मैं। मैं तुमपर श्रद्धा करना चाहती हूं, भरोसा करना चाहती हूं, तुम्हारी मैं पूजा करना चाहती हूं। तुम अपना अपमान करके, मुझे दुःसह दुःख देकर, मुझे अपने से बड़ा मत बनाओ, प्रियतम! मुझे सब विषयों में अपने पैरों के नीचे रखो, नाथ!"

मैंने क्या-क्या बातें कही थीं, सो क्या मुझे याद है! विक्षुब्ध समुद्र क्या अपना गर्जन स्वयं सुन पाता है? सिर्फ इतना याद है कि मैंने कहा था, 'अगर मैं सती होऊं, तो भगवान साक्षी रहे, तुम किसी भी तरह अपनी धार्मिक प्रतिज्ञा भंग न कर सकोगे। उस महापाप के होने के पहले या तो मैं विधवा हो जाऊंगी, या हेमांगिनी नहीं बचेगी।' यह कहते-कहते मैं बेहोश होकर गिर पड़ी।

जब मुझे होश आया, तब तक पौ फटने पर बोलनेवाली चिड़ियों ने चहचहाना शुरू नहीं किया था, और मेरे स्वामी चले गए थे।

अपने घर के ठाकुरद्वारे में दरवाज़ा बन्द करके मैं पूजा करने बैठ गई। तमाम दिन मैं बाहर नहीं निकली। शाम को बड़े ज़ोर की आंधी आई, तूफान था वह, सारा मकान कांपने लगा। फिर भी मैंने यह नहीं कहा कि 'हे भगवान, मेरे पति इस समय नदी में हैं, उनकी रक्षा करो!' मैं एकाग्र चित्त से केवल यही कहने लगी कि 'भगवान, मेरे भाग्य में जो बदा है सो होगा, पर मेरे स्वामी को तुम इस महापातक से बचाओ।'

सारी रात बीत गई। उसके दूसरे दिन भी मैंने अपना आसन नहीं छोड़ा। बिना खाए-पिए और बिना सोए मुझे किसने बल दिया, मालूम नहीं, मैं पाषाण-मूर्ति के सामने पाषाण-मूर्ति की तरह ज्यों की त्यों स्थिर बैठी रही।

शाम के वक्त बाहर से दरवाज़े पर धक्के का शब्द सुनाई दिया। दरवाज़ा तोड़कर जब लोग भीतर घुसे, तब मैं बेहोश पड़ी थी।

बेहोशी दूर होने पर मैंने सुना, 'जीजी!' आंख खोलकर देखा कि मैं हेमांगिनी की गोद में पड़ी हूं। सिर हिलाते ही मालूम हुआ कि वह ब्याह के कपड़े पहने हुए है। भीतर से मेरी पसलियां तक चीख उठीं, 'हा भगवान, मेरी प्रार्थना नहीं सुनी तुमने! आखिर मेरे स्वामी का पतन हो ही गया!'

हेमांगिनी ने सिर झुकाकर धीरे से मुझसे कहा, "जीजी, तुम्हारी असीस लेने आई हूं मैं।"

पहले तो मैं क्षण-भर के लिए पत्थर-सी कठोर हो गई, फिर दूसरे ही क्षण उठके बैठ गई। मैंने कहा, "तुम्हें आशीर्वाद दूंगी, बहन! तुम्हारा क्या कसूर!"

हेमांगिनी अपने स्वाभाविक मीठे और ऊंचे स्वर से हंस उठी, और बोली, "कसूर! तुम खुद ब्याह करो तो कसूर नहीं, और मैं करूं तो कसूर है?"

हेमांगिनी से लिपटकर मैं भीं हंसने लगी। मन ही मन कहा, 'संसार में मेरी ही प्रार्थना क्या सबसे बढ़कर है? उनकी इच्छा क्या कोई चीज ही नहीं! जो चोट पड़ी है वह मेरे ही सिर पर पड़े, पर हृदय के भीतर जहां मेरा धर्म है, जहां मेरी श्रद्धा है, वहां उसे हरगिज़ न पड़ने दूंगी। मैं जैसी थी वैसी ही रहूंगी।'

हेमांगिनी ने मेरे पांव पड़कर पांव की धूल अपने माथे से लगा ली। मैंने कहा, "तुम चिर सौभाग्यवती होओ, बहन, चिर सुखी होओ!"

हेमांगिनी ने कहा, "आज सिर्फ असीस देकर ही छुटकारा न पा सकोगी, जीजी! अपनी बहन और बहनोई को भी तुम्हें अपने हाथों से वरण करना होगा। तुम सती हो, तुम्हारा आशीर्वाद ही हम दोनों के जीवन का मूलधन होगा, जीजी! उनकी शरम करने से काम न चलेगा। अगर आज्ञा हो तो उन्हें मैं ले आऊं भीतर?"

मैंने कहा, "जाओ, ले आओ।"

कुछ देर बाद मेरे कमरे में नये पद-शब्द ने प्रवेश किया। स्नेह का एक प्रश्न मेरे कानों में पड़ा, "अच्छी तरह हो, कुमू ?"

मैंने उतावली के साथ बिछौने से उठकर भाई साहब के पांव के पास प्रणाम करके कहा, "भइया !"

हेमांगिनी बोली, "भइया कैसे ? जरा कान तो ऐंठ दो इनके। अब ये तुम्हारे भइया नहीं, छोटे बहनोई हैं !"

तब मैं सब बात समझ गई। मुझे मालूम था, भइया की प्रतिज्ञा थी कि वे ब्याह नहीं करेंगे। मां नहीं थी, कह-सुनकर ब्याह करानेवाला और कोई भी न था। अब शायद मैंने ही उनका ब्याह करा दिया। मेरी दोनों आंखों से आंसुओं की वर्षा-सी होने लगी, किसी भी तरह मैं उन्हें रोक न सकी। भइया धीरे-धीरे मेरे बालों में हाथ फेरने लगे, और हेमांगिनी मुझसे लिपटकर सिर्फ हंसती ही रही।

रात को नींद नही आ रही थी, मैं उत्कण्ठित चित्त से पति के प्रत्यागमन की प्रत्याशा कर रही थी। लज्जा और निराशा को वे कैसे दूर करेंगे, मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

बहुत रात बीते धीरे-धीरे दरवाज़ा खुला। मैं चौंककर बैठ गई। मेरे पति के पैरों की आहट थी। छाती के भीतर मेरा हृदय और उसके साथ मेरी पसलियां भी पछाड़ें खाने लगीं।

उन्होंने बिस्तर पर आकर मेरा हाथ थामकर कहा, "तुम्हारे भइया ने ही मुझे बचाया है। मैं क्षण-भर के मोह में आकर मरने जा रहा था। उस दिन जब मैंने नाव पर पैर रखा, तब मेरी छाती पर कितना भारी पत्थर जमा बैठा था, सो मैं जानता हूं या भगवान ही जानते हैं। जब नदी में ज़ोर की आंधी आई तो प्राणों का भी भय हो रहा था, और साथ ही यह भी सोच रहा था कि डूब जाऊं तो मेरा उद्धार हो जाए। माथुरगंज में पहुंचते ही सुना कि एक दिन पहले ही तुम्हारे भइया के साथ हेमांगिनी का ब्याह हो गया है। कितनी लज्जा से और कितने आनन्द से नाव पर वापस आया, सो मैं कह नहीं सकता। इन्हीं दो दिनों में मैं खूब अच्छी तरह समझ गया हूं कि तुम्हारे बगैर मुझे सुख नहीं, तुम्हारे सिवा मेरे लिए और कहीं भी कोई शान्ति नहीं, तुम मेरी देवी हो।"

मैंने हंसकर कहा, "नहीं, मुझे देवी बनाने की ज़रूरत नहीं, मैं तुम्हारे घर की गृहिणी हूं, मैं तुम्हारी साधारण स्त्री-मात्र हूं, और कुछ

भी नहीं।"

स्वामी ने कहा, "मेरी भी एक बात तुम्हें रखनी होगी। मुझे अब देवता कहकर कभी भी किसी दिन लज्जित न करना। मैं भी तुम्हारा साधारण पति हूं, तुम्हारा प्रेमी हूं, और कुछ भी नहीं।"

दूसरे दिन उलू-ध्वनि और शंख-ध्वनि से सारा मुहल्ला गूंज उठा।

हेमांगिनी उठते-बैठते, नहाते-खाते, सोते-जागते, शाम-सवेरे, हर वक्त मेरे पति का मजाक उड़ाने लगी। वे बेचारे तंग आ गए, परेशान हो गए। किन्तु, वे कहां गए थे, क्या हुआ था, मुझसे किसीने भी उसका कोई जिक्र तक नहीं किया।

[मूल रचना : पौष, १९५५]

सुभा

लड़की का नाम जब 'सुभाषिणी' रखा गया था, तब कौन जानता था कि वह गूंगी होगी? इसके पहले, उसकी दो बडी बहनों के नाम रखे गए हैं सुकेशिनी और सुहासिनी, इसीसे, काफिया मिलाने की गरज से उसके बाप ने छोटी लड़की का नाम रख दिया सुभाषिणी। अब संक्षेप में उसे सब 'सुभा' कहते हैं।

काफी खोज और खर्च के साथ दोनों बड़ी लड़कियों का ब्याह हो चुका है, और अब छोटी लड़की सुभा मां-बाप के हृदय के नीरव बोझ की तरह घर की शोभा बढ़ा रही है।

जो बोलती नहीं वह सब कुछ अनुभव करती है, यह बात सबकी समझ में नहीं आती, और इसीसे, सुभा के सामने ही सब कोई उसके भविष्य के विषय में तरह-तरह की चिन्ता-फिकर की बातें किया करते हैं। किन्तु स्वयं सुभा इस बात को बचपन से ही समझ चुकी है कि उसने विधाता के अभिशाप के रूप में अपने पिता के घर आकर जन्म

लिया है। इसका नतीजा यह हुआ कि वह हमेशा ही अपने को सबकी निगाह से बचाए रखने की कोशिश करती रहती है। वह मन ही मन सोचा करती कि उसे सब भूल जाएं तो अच्छा। मां-बाप के मन में वह हर वक्त दर्द की तरह जीती-जागती बनी ही रहती।

खासकर उसकी मां उसे अपनी ही एक त्रुटि के रूप में देखती है, क्योंकि हरएक मां लड़के की अपेक्षा लड़की को कहीं ज्यादा अपने अंश के रूप में देखती है। और, लड़की में कोई कमी होने पर वे उसे अपने लिए मानो खास तौर से शर्म की बात मानती है। सुभा के पिता वाणीकण्ठ तो बल्कि सुभा को अपनी और-और लड़कियों की अपेक्षा कुछ ज़्यादा प्यार करते हैं, पर मां उसे अपने गर्भ का कलंक जानकर उससे उदास-सी रहती है।

सुभा के बोलने की ज़बान नहीं है, किन्तु उसके लम्बी-लम्बी पलकों-शुदा दो काली आंखें ज़रूर हैं, और उसके ओठ तो मन के भाव के ज़रा से इशारे पर नये कोमल-चिकने पत्ते की तरह कांप-कांप उठते हैं।

शब्दों से हम जो परस्पर अपने मन के भाव प्रकट किया करते हैं उसको हमें बहुत कुछ अपनी कोशिश से गढ़ लेना पड़ता है, कुछ-कुछ अनुवाद करने के समान ही समझो, और वह हर वक्त ठीक भी नहीं होता; शक्ति की कमी से अकसर उसमें भूल भी हो जाती है। किन्तु काली आंखों को कभी कुछ भी अनुवाद नहीं करना पड़ता, मन अपने-आप ही उनपर छाया डालता रहता है, मन के भाव अपने-आप ही उस छाया में कभी फैलते और कभी सिकुड़ते रहते हैं। कभी ये आंखें चमक-चमककर जलने लगती हैं तो कभी उदास होकर बुझ-सी जाती हैं, कभी डूबते हुए चांद की तरह टकटकी लगाए न जाने क्या देखती रहती हैं तो कभी चंचल बिजली की तरह ऊपर-नीचे, इधर-उधर चारों तरफ बड़ी तेज़ी से छिटकने लगती हैं। और, खासकर मुंह के भाव के सिवा जिसके पास जन्म से ही और कोई भाषा नहीं, उसकी आंखों की भाषा तो बेहद उदार और अथाह गहरी होती ही है—करीब-करीब साफ-सुथरे नील आकाश के समान। उन आंखों को तो उदय से लेकर अस्त तक, सुबह से लेकर शाम तक और शाम से लेकर सुबह तक, छायालोक की निस्तब्ध रंगभूमि ही समझना महानता है, और यही कारण है कि साधारण लड़के-लड़कियां सबको उसका एक तरह का डर-सा बना रहता, उसके साथ कोई खेलता नहीं। वह सुनसान

दोपहरी के समान शब्दहीन और संगीहीन अकेली ही बनी रहती।

गांव का नाम है चण्डीपुर। उसके बगल से बहनेवाली नदी बंगाल की एक छोटी-सी नदी है—गृहस्थ के घर की छोटी-सी लड़की के समान। बहुत दूर तक उसका फैलाव नहीं है। उसके ज़रा भी आलस नहीं, वह अपनी छरहरी देह लिए अपने दोनों किनारों की रक्षा करती हुई अपना काम किए जाती है। दोनों किनारे के गांवों के सब लोगों के साथ मानो उसका एक न एक सम्बन्ध हो गया है। दोनों तरफ गांव हैं और पेड़ों के छायादार ऊंचे किनारे, जिनके नीचे से गांव की लछमी स्रोतस्विनी नदी अपने-आपको भूलकर जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाती हुई बहुत ही प्रसन्न चित्त से असंख्य मंगल कार्यों के लिए बहती चली जा रही है।

वाणीकण्ठ का घर नदी के ऐन किनारे पर है। उसका खपच्चियों का वाड़ा, ऊंचा छप्पर, ग्वालघर, भुस और चारे का ढेर, आम, कटहर और केलों का बगीचा हरएक नाववाले की नज़र अपनी तरफ खींचा करता है। ऐसे घर में आसानी से चलनेवाली ऐसी सुख की गृहस्थी में, उस गूंगी लड़की पर किसीकी नज़र भी पड़ती है या नहीं, मालूम नहीं। पर काम-काज से ज्योंही उसे ज़रा फुरसत मिलती त्योंही वह चट से उस नदी के किनारे जा बैठती।

प्रकृति मानो उसकी भाषा की कमी पूरी कर देती है। नदी की कलध्वनि, जनता का कोलाहल, मांझी-मल्लाहों का भटियाली गाना, चिड़ियों का चहचहाना, पेड़-पौधों की मर्मर-ध्वनि, सब मिलकर चारों तरफ के गमनागमन आंदोलन और कम्पन के साथ एक होकर समुद्र की तरंगों की तरह, उस बालिका के चिरनिस्तब्ध हृदय-उपकूल के बिलकुल पास आकर मानो टूट-टूट पड़ता है। प्रकृति की ये नाना ध्वनियां, विविध शब्द और विचित्र गति, यह भी तो गूंगी की ही भाषा है। बड़ी-बड़ी आंखों और उनसे भी बड़ी पलकों वाली सुभा की जो भाषा है उसीका मानो वह विश्वव्यापी विस्तार है, जिसमें झींगुरों की झनकार से गूंजती हुई तृण-भूमि से लेकर शब्दातीत नक्षत्र-लोक तक केवल इंगित, भंगिमा, संगीत, क्रन्दन और दीर्घनिश्वास भरा पड़ा है।

और, दोपहर को मल्लाह और मछुए जब खाने के लिए घर जाते, गृहस्थ और पक्षी आराम करते, पार उतारनेवाली नावें बन्द रहतीं

ग्रौर जन-बहुल जगत् ग्रपने सारे काम-काजों के बीच में रुककर सहसा भयानक निर्जन मूर्ति धारण करता, तब रुद्र महाकाश के नीचे सिर्फ एक गूंगी प्रकृति ग्रौर एक गूंगी लड़की दोनों ग्रामने-सामने चुपचाप बैठी रहतीं, एक दूर तक फैली हुई धूप में ग्रौर दूसरी एक छोटे-से पेड़ की छाया में।

सुभा की खास सहेली कोई हो ही नहीं, सो बात नहीं। ग्वाल-घर में दो गायें हैं, एक का नाम है सरबती ग्रौर दूसरी का पार्वती। ये नाम सुभा के मुंह उन गायों ने कभी नहीं सुने, किन्तु वे उसके पैरों की ग्राहट खूब पहचानती हैं। सुभा का बिन बातों का ऐसा एक करुण स्वर है जिसका ग्रर्थ वे भाषा की ग्रपेक्षा कहीं ज़्यादा सरलता से समझ जाती हैं। सुभा कभी उनपर लाड़ करती है, कभी डांटती है ग्रौर कभी प्रार्थना का भाव दिखाकर उन्हें मना भी लेती है; ग्रौर इन बातों को उसकी 'सारो' ग्रौर 'पारो' ग्रादमी की ग्रपेक्षा कहीं ज़्यादा समझ जाती हैं।

सुभा ग्वालघर में घुसकर ग्रपनी दोनों बांहों से जब सारो की गर्दन पकड़कर उसके कान के पास ग्रपनी कनपटी रगड़ती है तब पारो प्यार की दृष्टि से उसकी ग्रोर देखती हुई उसकी देह चाटने लगती है। सुभा दिन-भर में कम से कम दो-तीन बार तो नियम से ग्वालघर में जाती है। इसके सिवा ग्रनियमित जाना-ग्राना भी बना रहता है। घर में जिस दिन वह कोई कड़ी बात सुनती उस दिन उसका समय ग्रपनी गूंगी सखियों के पास ही बीत जाता। सुभा की सहनशील ग्रौर विषाद-शान्त चितवन को देखकर वे न जाने कैसी तो एक ग्रन्ध ग्रनुमान-शक्ति से उसकी मर्म वेदना को समझ जातीं, ग्रौर उसकी देह से सटकर धीरे-धीरे उसकी बांहों पर सींग घिस-घिसकर मौन व्याकुलता से उसे सान्त्वना देने की कोशिश करतीं।

इनके ग्रलावा एक बकरी ग्रौर एक बिल्ली का बच्चा भी था। उनके साथ सुभा की ऐसी बराबरी की मित्रता तो नहीं थी, फिर भी, वे उससे काफी प्यार रखते ग्रौर उसके ग्रनुकूल चलते। बिल्ली का बच्चा, चाहे दिन हो या रात, जब-तब सुभा की गरम गोद पर बिना किसी संकोच के ग्रपना हक जमा लेता ग्रौर सुख की नींद सोने की तैयारी करता। सुभा जब उसकी गर्दन ग्रौर पीठ पर ग्रपनी कोमल उंग-लियां फेर देती तब तो वह भीतर से ऐसा भाव प्रकट करने लगता कि

जैसे उससे उसकी नींद में खास मदद मिल रही हो।

उन्नत श्रेणी के जीवों में सुभा को श्रौर भी एक साथी मिल गया था। किन्तु उसके साथ उसका ठीक कैसा सम्बन्ध था, इसकी पक्की खबर बताना मुश्किल है। क्योंकि उसकी बोलने की ज़बान है श्रौर यह है गूंगी, लिहाज़ा दोनों की बोली एक नहीं थी।

वह था गुसाइयों का छोटा लड़का प्रताप। लड़का बिलकुल श्रालसी श्रौर निठल्ला था। उसके मां-बाप ने बड़ी कोशिशों के बाद इस बात की उम्मीद ही कतई छोड़ दी थी कि वह काम-धन्धा करके घर-गृहस्थी की कुछ मदद या तरक्की कर सकेगा। निठल्लों के लिए एक बड़ा सुभीता यह है कि घर के लोग उनपर भले ही नाखुश रहें, किन्तु बाहर-वालों के लिए वे प्रायः प्रियपात्र होते हैं; कारण किसी काम में फंसे न रहने से वे सरकारी मिलकियत-से बन जाते हैं। शहरों में जैसे घर के सम्पर्क से बिलकुल श्रलग एक-श्राध सरकारी बाग-बगीचे का रहना ज़रूरी है वैसे ही गांवों में दो-चार निठल्ले सरकारी श्रादमियों का रहना श्रत्यन्त श्रावश्यक है। काम-काज में, हंसी-खेल में श्रौर जहां कहीं भी एक श्रादमी की कमी दीखी वहीं वे चट से हाथ के पास ही मिल जाते हैं।

प्रताप को मछली पकड़ने का बहुत शौक है। इससे उसका श्रासानी से बहुत-सा वक्त कट जाता है। तीसरे पहर नदी के किनारे श्रकसर वह इस काम में तल्लीन दिखाई देता, श्रौर इसी बहाने सुभा से उसकी मुलाकात हुश्रा करती। चाहे किसी भी काम में हो, बगल में एक साथी मिल जाने से प्रताप रहता बड़ा खुश है। मछली पकड़ते समय मौनी साथी ही सबसे श्रच्छा समझा जाता है, इसलिए प्रताप सुभा की खूबी जानता श्रौर कदर करता है। यही कारण है कि श्रौर सब तो सुभा को 'सुभा' कहते, किन्तु प्रताप उसमें श्रौर भी ज़रा प्यार मिलाकर सुभा को 'सू' कहकर पुकारा करता है।

सुभा इमली के पेड़ के नीचे बैठी रहती, श्रौर प्रताप पास ही ज़मीन पर बैठा हुश्रा पानी में कांटा डालकर उसीकी तरफ देखता रहता। प्रताप के लिए सुभा की तरफ से रोज़ एक पान बंधा हुश्रा था, श्रौर उसे वह खुद श्रपने हाथ से लगाकर लाती। तालाब के किनारे बहुत देर तक बैठे-बैठे श्रौर देखते-देखते सुभा का शायद ऐसा मन करता कि वह प्रताप को कोई एक खास सहायता पहुंचाए, उसके किसी काम में सहारा दे। उसके ऐसा जी में श्राता कि किसी तरह वह जता दे कि

संसार में वह भी कोई कम ज़रूरी चीज़ नहीं। किन्तु उसके पास न तो कुछ करने को था और न वह कुछ कर सकती थी। तब वह मन ही मन विधाता से ऐसी अलौकिक शक्ति के लिए प्रार्थना करती कि जिससे वह जादू-मन्तर से चट से ऐसा कोई चमत्कार दिखा सके जिसे देखकर प्रताप दंग रह जाए; और कहने लगे, 'अच्छा! 'सू' में यह करामात! मुझे क्या मालूम था!'

मान लो, सुभा यदि जलकुमारी होती और धीरे-धीरे पानी में से निकलकर सांप के माथे की मणि घाट पर रख जाती और प्रताप अपने उस तुच्छ काम को छोड़कर उस मणि को लेकर पानी में डुबकी लगाता और पाताल में जाकर देखता कि चांदी के महल में, सोने के पलंग पर यह कौन बैठा है। और आश्चर्य से मुंह बनाकर कहता, 'अरे, यह तो अपने वाणीकण्ठ के घर की वही गूंगी लड़की है, सू! मेरी सू! आज यह मणियों से जगमगाती हुई गम्भीर निस्तब्ध पातालपुरी की एकमात्र राजकन्या बनी बैठी है!' तो? तो क्या यह बात हो नहीं सकती! क्या यह बिलकुल ही असम्भव है? असल में कुछ भी असम्भव नहीं। किन्तु फिर भी, 'सू' प्रजा-शून्य पातालपुरी के राजवंश में जन्म न लेकर वाणीकण्ठ के घर जनमी है, और इसलिए वह आज गुसाइयों के घर के लड़के प्रताप को किसी भी तरह आश्चर्य से दंग नहीं कर सकती।

सुभा की उमर आए दिन बढ़ती ही जा रही है। धीरे-धीरे वह अपने-आपको अनुभव कर रही है, मानो किसी एक पूर्णिमा तिथि में किसी समुद्र से ज्वाररूप में आकर उसके हृदय-मन को एक नवीन अनिर्वचनीय चेतना-शक्ति भर-भर देती है। अब मानो वह अपने-आपको देख रही है, अपने बारे में कुछ सोच रही है, कुछ पूछ रही है, पर कुछ समझ नहीं पाती।

पूर्णिमा की गंभीर रात्रि में सुभा ने एक दिन धीरे से अपने कमरे की खिड़की खोलकर डरते-डरते मुंह निकालकर बाहर की ओर देखा। उसे ऐसा लगा जैसे पूर्णिमा-प्रकृति भी उसकी तरह सोते हुए जगत् पर अकेली बैठी जाग रही है, और वह भी मानो यौवन के रहस्य से, पुलक से, आनन्द से, विषाद से असीम निर्जनता के बिलकुल अन्तिम सीमा तक, यहां तक कि उसे भी पार करके, चुपचाप स्तब्ध-स्थिर बैठी है, एक शब्द भी उसके मुंह से नहीं निकल रहा है। मानो इस स्थिर निस्तब्ध

प्रकृति के एक किनारे पर उससे भी स्थिर और उससे भी निस्तब्ध एक भोली वालिका खड़ी हो।

इधर लड़की के व्याह की दुश्चिन्ता में मां-बाप बहुत ही व्याकुल हो उठे हैं। और, गांव के लोग भी जहां-तहां निन्दा कर रहे हैं, यहां तक कि जाति से निकाल दिए जाने की भी अफवाह फैल रही है। वाणीकण्ठ की वैसे तो हालत अच्छी ही है, खाते-पीते सुखी हैं, और इसलिए उनके दुश्मनों की कमी नहीं।

स्त्री-पुरुषों में इस बात पर बहुत कुछ सलाह-मशविरा हुआ। कुछ दिनों के लिए वाणीकण्ठ गांव से वाहर परदेश चले गए।

अन्त में एक दिन वापस आकर स्त्री से बोले, "चलो कलकत्ता चले चलें।"

कलकत्ता जाने की तैयारियां होने लगीं। कुहरे से ढके हुए प्रभात के समान सुभा का सम्पूर्ण हृदय आंसुओं की भाप से ऊपर तक भर गया। वह एक अज्ञात आशंका के मारे कुछ दिनों से मूक जन्तु की तरह लगातार अपने मां-बाप के साथ-साथ रहती; और अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से उनके मुंह की ओर देख-देखकर मानो कुछ समझने की कोशिश किया करती; किन्तु वे कोई भी बात समझाकर उसे बताते ही नहीं।

इसी बीच में, एक दिन तीसरे पहर, तालाब के किनारे मछली पकड़ने की धुन में लगे हुए प्रताप ने हंसते-हंसते पूछा, "क्यों री, सू, मैंने सुना है कि तेरे लिए दूल्हा मिल गया है, तू व्याह करने कलकत्ता जा रही है ? देखना कहीं हम लोगों को भूल न जाना !" इतना कहकर वह पानी की तरफ देखने लगा।

तीर से बिंधी हुई हरिणी जैसे अपने शिकारी की ओर करुण दृष्टि से देखती और आंखों ही आंखों में कहती रहती है, 'मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था', सुभा ने लगभग वैसे ही प्रताप की ओर देखा। उस दिन वह पेड़ के नीचे नहीं बैठी। वाणीकण्ठ तब बिस्तर से उठकर बैठे तमाकू पी रहे थे। सुभा उनके पैरों के पास बैठकर उनके मुंह की तरफ ताकती हुई रोने लगी। अन्त में लड़की को सान्त्वना देते हुए बाप के सूखे गालों पर आंसू की दो बूंदें ढलक पड़ीं।

कल कलकत्ता रवाना होने की बात है। सुभा ग्वालघर में अपनी मूक सहेलियों से विदा लेने गई। उन्हें अपने हाथ से खिलाकर, गले में

बांह डालकर, वह अपनी दोनों आंखों से खूब जी भरकर उनसे बात करने लगी। उसकी आंखों से टप-टप आंसू गिरने लगे।

उस दिन शुक्ला द्वादशी की रात थी। सुभा अपनी कोठरी में से निकलकर अपने उसी चिरपरिचित नदीतट के कच्चे घाट के पास जाकर घास पर औंधी लेट गई। मानो वह सम्पूर्ण मानवजाति की मूक धरतीमाता से अपनी दोनों बांहों से लिपटकर कहना चाहती है, 'तू मुझे कहीं मत जाने दे, मां, मेरी तरह तू भी मुझे अपनी बांहों से पकड़े रख, कहीं मत जाने दे।'

कलकत्ता के एक किराये के मकान में एक दिन मां ने सुभा को पहना-उढ़ाकर खूब अच्छी तरह सजा दिया। कसके उसके बाल बांध दिए, जूड़े में ज़री का फीता लपेट दिया, गहनों से लादकर उसके स्वाभाविक सौन्दर्य को भरसक मिटा दिया। सुभा की दोनों आंखों से आंसू बह रहे थे। आंखें कहीं सूज न जाएं इस खयाल से मां ने उसे बहुत समझाया-बुझाया और आखिर में फटकारा भी, पर आंसुओं ने फटकार की कुछ भी परवाह नहीं की। उस दिन कई मित्रों के साथ वर स्वयं कन्या देखने आया। लड़की के मां-बाप चिन्तित, शंकित हो घबरा-से उठे। मानो देवता स्वयं अपनी बलि के पशु को पसन्द करने आए हों। भीतर से लड़की को काफी डांट-डपटकर उसकी आंसुओं की धारा को और भी तेज़ करके, परीक्षकों के सामने भेज दिया गया।

परीक्षकों ने बहुत देर तक देखभाल करने के बाद कहा, "ठीक है, बुरी नहीं है।"

खासकर बालिका का रोना देखकर वे समझ गए कि इसके हृदय है और उसमें दर्द है; और फिर हिसाब लगाकर देखा कि जो हृदय आज मां-बाप के बिछोह की बात सोचकर इस तरह व्यथित हो रहा है, आखिर कल वह उन्हींके काम आएगा। सीप के मोती की तरह बालिका के आंसुओं की बूंदें स्वयं उसकी कीमत बढ़ाने लगीं, उसकी तरफ से और किसीको कुछ कहना ही न पड़ा।

जन्मपत्रियां मिलाकर शुभ लग्न में सुभा का ब्याह हो गया।

अपनी गूंगी लड़की को गैरों के हाथ सौंपकर मां-बाप अपने गांव लौट आए। और तब कहीं उनकी जाति और परलोक की रक्षा हुई।

सुभा का दूल्हा पछांह की तरफ नौकरी करता है। ब्याह के बाद

जल्द ही वह स्त्री को लेकर अपनी नौकरी पर चला गया।

एक हफ्ते के अन्दर ससुराल के सब कोई समझ गए कि दुलहिन गूंगी है। किन्तु इतना किसीने न समझा कि इसमें उसका अपना कोई दोष नहीं, उसने खुद किसीको धोखा नहीं दिया। उसकी आंखों ने सब बात स्पष्ट कह दी थी, किन्तु कोई उसे समझ नहीं सका। अब वह चारों तरफ देखती रहती है, उसे अपने मन की बात कहने की भाषा नहीं मिलती। जो उस गूंगी की भाषा समझते थे, उसके जन्म से परिचित वे चेहरे यहां उसे दिखाई नहीं दे रहे थे। बालिका के चिरमौन हृदय के भीतर मानो एक असीम अव्यक्त क्रंदन ध्वनित होने लगा, और अंतर्यामी के सिवा और कोई उसे सुन ही न सका।

अब की बार उसके पति स्वयं अपनी आंखों और कानों से खूब अच्छी तरह देख-सुनकर एक बोलनेवाली लड़की को ब्याह लाए।

[मूल रचना : माघ, १६४६]

काबुलीवाला

मेरी पांच बरस की छोटी लड़की मिनी से घड़ी-भर भी बात बिना किए नहीं रहा जाता। संसार में जन्म लेने के बाद भाषा सीखने में उसने सिर्फ एक ही साल लगाया होगा। उसके बाद से, जितनी देर तक वह जागती रहती है, उस समय का एक क्षण भी वह मौन में नष्ट नहीं करती। उसकी मां अकसर डांटकर उसका मुंह बन्द कर देती है, पर मुझसे ऐसा नहीं होता। मिनी का चुप रहना मुझे ऐसा अस्वाभाविक लगता है कि मुझसे वह ज़्यादा देर तक नहीं सहा जाता, और यही वजह है कि मेरे साथ उसकी बातचीत कुछ ज़्यादा उत्साह के साथ होती रहती है।

सवेरे मैंने अपने उपन्यास के सत्रहवें परिच्छेद में हाथ लगाया ही

था कि इतने में मिनी ने आकर शुरू कर दिया, "बापूजी, रामदयाल दरबान है न सो 'काक'[1] को 'कौआ' कहता था, वो कुछ जानता नहीं न, बापूजी?"

दुनिया की भाषाओं की विभिन्नता के विषय में मेरे कुछ कहने के पहले ही उसने दूसरा प्रसंग छेड़ दिया, "देखो, बापूजी, भोला कहता था, 'आकाश में हाथी सूंड़ से पानी फेंकता है, इसीसे बरसा होती है!' अच्छा, बापूजी, भोला झूठ-मूठ को बकता बहुत है, है न? खाली बक-बक किया करता है, रात-दिन बकता है।"

इस विषय में मेरी राय के लिए ज़रा भी इन्तज़ार न करके वह चट से बड़े नरम स्वर में एक जटिल सवाल पूछ बैठी, "अच्छा, बापूजी, मां तुम्हारी कौन लगती है?"

मैंने मन ही मन कहा, 'साली'! और मुंह से बोला, "मिनी, तू जा, भोला के साथ खेल जाकर। मुझे अभी काम है, अच्छा!"

तब उसने मेरी टेबल की बगल में पैरों के पास बैठकर अपने दोनों घुटनों और हाथों को हिला-हिलाकर बड़ी जल्दी-जल्दी मुंह चलाकर 'अटकन-मटकन दही चटाके' खेल शुरू कर दिया, जबकि मेरे उपन्यास के सत्रहवें परिच्छेद में प्रतापसिंह उस समय कांचनमाला को लेकर अन्धेरी रात में कारागार के ऊंचे झरोखे में से नीचे बहती हुई नदी में कूद रहे थे।

मेरा घर सड़क के किनारे पर था। सहसा मिनी 'अटकन-मटकन' खेल छोड़कर खिड़की के पास दौड़ी गई, और बड़े ज़ोर से चिल्लाने लगी, "काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला!"

मैले-कुचैले ढीले कपड़े पहने, सिर पर साफा बांधे, कंधे पर मेवों की झोली लटकाए, हाथ में दो-चार अंगूर की पिटारियां लिए एक लम्बा-सा काबुली धीमी चाल से सड़क पर जा रहा था। उसे देखकर मेरी कन्या के मन में कैसा भावोदय हुआ, यह बताना कठिन है। उसने ज़ोरों से उसे पुकारना शुरू कर दिया। मैंने सोचा, अभी झोली कंधे में डाले सर पर एक आफत आ खड़ी होगी; और मेरा सत्रहवां परिच्छेद आज पूरा होने से रह जाएगा।

लेकिन मिनी के चिल्लाने पर ज्योंही काबुली ने हंसते हुए उसकी

---

१. बंगला में 'कौआ' को 'काक' कहते हैं; इसलिए बंगाली लड़की की दृष्टि में दरबान गलत बोल रहा था।

तरफ मुंह फेरा और वह मकान की तरफ आने लगा, त्योंही मिनी जान लेकर भीतर भाग गई। फिर उसका पता ही नहीं लगा कि कहां गायब हो गई। उसके मन में एक अन्धविश्वास-सा बैठ गया था कि उस झोली के अन्दर तलाश करने पर उस जैसी और भी दो-चार जीती-जागती लड़कियां निकल सकती हैं।

इधर काबुली ने आकर मुस्कराते हुए मुझे सलाम किया; और खड़ा हो गया। मैंने सोचा, यद्यपि प्रतापसिंह और कांचनमाला की हालत अत्यन्त संकटापन्न है, फिर भी घर में बुलाकर इससे कुछ न खरीदना अच्छा न होगा।

कुछ सौदा खरीदा गया। उसके बाद मैं उससे इधर-उधर की बातें करने लगा। अबदर रहमत, रूस, अंग्रेज़, सीमान्त-रक्षा इत्यादि विषयों में गपशप होने लगी।

अन्त में, उठके जाते समय, उसने अपनी खिचड़ी भाषा में मुझसे पूछा, "बाबू साहब, आपकी लड़की कहां गई?"

मैंने मिनी के मन से फिज़ूल का डर दूर करने के इरादे से उसे भीतर से बुलवा लिया। वह मुझसे बिलकुल सटकर काबुली के मुंह और झोली की तरफ संदिग्ध दृष्टि से देखती हुई खड़ी रही। काबुली ने झोली में से किसमिस और ख़ूबानी निकालकर मिनी को देना चाहा, पर उसने कुछ भी नहीं लिया, वह दूने सन्देह के साथ मेरे घुटनों से चिपट गई। पहला परिचय इस तरह हुआ।

कुछ दिन बाद, एक दिन सवेरे, किसी ज़रूरी काम से मैं बाहर जा रहा था। देखूं तो, मेरी दुहिता दरवाज़े के पास बेंच पर बैठी हुई काबुली से खूब बातें कर रही है; और काबुली उसके पैरों के पास बैठा-बैठा मुस्कराता हुआ ध्यान से सब सुन रहा है, और बीच-बीच में प्रसंगानुसार अपना मतामत भी खिचड़ी भाषा में व्यक्त करता जाता है। मिनी को अपने पांच साल के जीवन की जानकारी में 'बापूजी' के सिवा ऐसा धीरज वाला श्रोता शायद ही कभी मिला हो। देखा तो उसका छोटा-सा आंचल बादाम-किसमिस से भरा हुआ है। मैंने काबुली से कहा, "इसे यह सब क्यों दे दिया? अब मत देना।" कहकर जेब से एक अठन्नी निकालकर मैंने उसे दे दी। उसने बिना किसी संकोच के अठन्नी लेकर अपनी झोली में डाल ली।

घर लौटकर देखता हूं तो मेरी उस अठन्नी ने बड़ा भारी उपद्रव

खड़ा कर दिया है।

मिनी की मां एक सफेद चमकीला गोलाकार पदार्थ हाथ में लिए डपटकर मिनी से पूछ रही है, "तैंने यह अठन्नी पाई कहां से, बता?"

मिनी ने कहा, "काबुलीवाले ने दी है।"

"काबुलीवाले से तैंने अठन्नी ली कैसे, बता?"

मिनी ने रोने की तैयारी करके कहा, "मैंने मांगी नहीं थी, उसने अपने-आप दी है।"

मैंने आकर मिनी की उस आसन्न विपत्ति से रक्षा की; और उसे बाहर ले आया।

मालूम हुआ कि उस काबुली के साथ मिनी की यह दूसरी मुलाकात हो सो बात नहीं। इस बीच में वह रोज़ आया है और पिस्ता-बादाम की रिश्वत दे-देकर मिनी के छोटे-से हृदय पर उसने काफी अधिकार जमा लिया है।

देखा कि इन दोनों मित्रों में कुछ बंधी हुई बातें और हंसी प्रचलित है। जैसे, रहमत को देखते ही मेरी लड़की हंसती हुई पूछती, "काबुली-वाला, ओ काबुलीवाला, तुम्हारी झोली के भीतर क्या है?"

रहमत एक अनावश्यक चन्द्रबिन्दु जोड़कर हंसता हुआ उत्तर देता, "हाथी।" उसके परिहास का मर्म अत्यन्त सूक्ष्म हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; फिर भी, इससे दोनों को ज़रा विशेष कौतुक मालूम होता। और शरद्‌ऋतु के प्रभात में एक सयाने और एक बच्चे की सरल हंसी देखकर मुझे भी बड़ा अच्छा लगता।

उनमें और भी एक-आध बात प्रचलित थी। रहमत मिनी से कहता, "तुम ससुराल कभी नहीं जाना, अच्छा!"

हमारे यहां की लड़कियां जन्म से ही 'ससुराल' शब्द से परिचित रहती हैं, किन्तु हम लोग ज़रा कुछ नये ज़माने के होने के कारण ज़रा-सी बच्ची को ससुराल के सम्बन्ध में विशेष ज्ञानी नहीं बना सके थे; इसलिए रहमत का अनुरोध वह साफ-साफ नहीं समझ पाती थी; किन्तु फिर भी किसी बात का जवाब बिना दिए चुप रहना उसके स्वभाव के बिलकुल विरुद्ध था। उलटे वह रहमत से ही पूछती, "तुम ससुराल जाओगे?"

रहमत काल्पनिक ससुर के लिए अपना ज़बरदस्त मोटा घूंसा

तानकर कहता, "हम ससुर को मारेगा !"

यह सुनकर मिनी 'ससुर' नामक किसी अपरिचित जीव की दुरावस्था की कल्पना करके खूब हंसती।

देखते-देखते शुभ्र शरद्‌ऋतु आ पहुंची। प्राचीनकाल में इसी समय राजा लोग दिग्विजय के लिए निकलते थे। मैं कलकत्ता छोड़कर कभी कहीं भी नहीं गया, शायद इसीलिए मेरा मन पृथ्वी-भर में घूमा करता है। यानी, मैं अपने घर के कोने में चिर-प्रवासी हूं, बाहर की पृथ्वी के लिए मेरा मन सर्वदा चंचल रहता है। किसी विदेश का नाम सुनते ही मेरा चित्त वहीं के लिए दौड़ने लगता है। इसी तरह विदेशी आदमी को देखते ही तुरन्त मेरा मन नदी, पर्वत, वन के बीच में एक कुटीर का दृश्य देखने लगता है और एक उल्लासपूर्ण स्वाधीन जीवन-यात्रा की बात कल्पना में जाग उठती है।

इधर देखो तो, मैं ऐसा स्थावर प्रकृति का हूं कि अपना कोना छोड़कर घर से बाहर निकलने में मेरा सिर कटता है। यही वजह है कि सवेरे के वक्त अपने छोटे-से कमरे में टेबल के सामने बैठकर उस काबुली से गप्पें करके मैं बहुत कुछ भ्रमण का काम निकाल लिया करता हूं। मेरे सामने काबुल का पूरा चित्र खिंच जाता। दोनों तरफ ऊबड़-खाबड़ जले हुए लाल रंग के ऊंचे दुर्गम पहाड़ हैं और रेगिस्तानी संकरा रास्ता, उसपर लदे हुए ऊंटों की कतार जा रही है। साफा बांधे हुए सौदागर और मुसाफिर कोई ऊंट पर सवार हैं तो कोई पैदल ही जा रहे हैं, किसीके हाथ में बरछा है तो कोई बाबा आदम के ज़माने की पुरानी बन्दूक लिए हुए हैं। मेघ-गर्जन के स्वर में काबुली लोग अपनी खिचड़ी भाषा में अपने देश की बातें कर रहे हैं।

मिनी की मां स्वभाव की बड़ी वहमी है। रास्ते में कोई शोरगुल हुआ नहीं कि उसने समझ लिया कि दुनिया-भर के सारे मतवाले शराबी हमारे ही मकान की तरफ दौड़े आ रहे हैं। उसकी समझ से यह दुनिया इस छोर से लेकर उस छोर तक चोर-डकैत, मतवाले-शराबी, सांप, बाघ, मलेरिया, सूंआं, तिलचट्टे और गोरों से भरी पड़ी है। इतने दिन हुए (बहुत ज़्यादा दिन नहीं हुए) इस दुनिया में रहते हुए भी उसके मन की यह विभीषिका दूर नहीं हुई।

खासकर रहमत काबुली की तरफ से वह बिल्कुल निश्चिन्त नहीं थी। उसपर विशेष दृष्टि रखने के लिए मुझसे वह बार-बार अनुरोध

करती रहती। जब मैं उसका सन्देह हंसी में उड़ा देना चाहता, तो वह मुझसे एकसाथ कई सवाल कर बैठती, "क्या कभी किसीका लड़का चुराया नहीं गया?" "क्या काबुल में गुलाम बेचे नहीं जाते?" "एक लम्बे-तगड़े, मोटे काबुली के लिए क्या एक छोटे-से बच्चे को चुरा ले जाना बिलकुल असम्भव बात है?" इत्यादि।

मुझे मानना पड़ता कि यह बात बिलकुल असम्भव हो सो बात नहीं, पर विश्वासयोग्य नहीं। विश्वास करने की शक्ति सबमें समान नहीं होती, इसलिए मेरी स्त्री के मन में डर रह ही गया; लेकिन सिर्फ इसलिए बिना किसी दोष के रहमत को अपने मकान में आने से मैं मना न कर सका।

हर साल माघ महीने के लगभग रहमत देश चला जाता है। इस समय वह अपने ग्राहकों से रुपये वसूल करने के काम में बड़ा उद्विग्न रहता है। उसे घर-घर घूमना पड़ता है, मगर फिर भी वह मिनी से एक बार मिल ही जाता है। देखने में तो ठीक ऐसा ही लगता है कि दोनों में मानो कोई षड़यन्त्र चल रहा हो। जिस दिन वह सवेरे नहीं आ पाता उस दिन देखूं तो शाम को हाज़िर है। अंधेरे में घर के कोने में उस ढीले-ढाले जामा-पायजामा पहने झोला-झोलीवाले लम्बे-तगडे आदमी को देखकर सचमुच ही मन में सहसा एक आशंका-सी पैदा हो जाती।

परन्तु, जब देखता हूं कि मिनी 'काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला' पुकारती हुई हंसती-हंसती दौड़ी आती है और दो जुदा-जुदा उमर के असम मित्रों में वही पुराना सरल परिहास चलने लगता है तब मेरा सम्पूर्ण हृदय प्रसन्न हो उठता है।

एक दिन सवेरे मैं अपने छोटे कमरे में बैठा हुआ अपनी नई पुस्तक का प्रूफ देख देख रहा था। जाड़ा, विदा होने के पहले, आज दो-तीन रोज़ से खूब ज़ोरों से पड़ रहा है। जहां देखो वहां जाड़े की ही चर्चा है। ऐसे जाड़े-पाले में खिड़की में से सवेरे की घाम टेबल के नीचे मेरे पैरों पर आ पड़ी तो उसकी गर्मी मुझे बड़ी अच्छी मालूम देने लगी। करीब आठ बजे होंगे। सिर से गुलूबन्द लपेटे ऊषाचरगण प्रातः भ्रमण समाप्त करके अपने-अपने घर की तरफ लौट रहे थे। ठीक इसी समय सड़क पर एक बड़े ज़ोर का हल्ला सुनाई दिया।

देखूं तो, अपने उस रहमत को दो सिपाही बांधे लिए जा रहे हैं। उसके पीछे बहुत-से कुतूहली लड़कों का झुण्ड चला आ रहा है। रहमत के कुरते पर खून के दाग हैं और एक सिपाही के हाथ में खून से सना हुआ छुरा! मैंने दरवाज़े के बाहर निकलकर सिपाही को रोक लिया, पूछा, "क्या बात है?"

कुछ सिपाही से और कुछ रहमत के मुंह से सुना कि हमारे पड़ौस में रहनेवाले एक आदमी ने रहमत से एक रामपुरी चादर खरीदी थी। उसके कुछ रुपये उसकी तरफ बाक़ी थे, जिन्हें वह देने से नट गया। बस, इसी पर दोनों में बात बढ़ गई, और रहमत ने छुरा निकालकर भोंक दिया।

रहमत उस झूठे बेईमान आदमी के लिए तरह-तरह की अश्राव्य गालियां सुना रहा था। इतने में 'काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला' पुकारती हुई मिनी घर से निकल आई।

रहमत का चेहरा क्षण-भर में कौतुक-हास्य से प्रफुल्ल हो उठा। उसके कंधे पर आज झोली नहीं थी, इसलिए झोली के बारे में दोनों मित्रों की अभ्यस्त आलोचना न चल सकी। मिनी ने आने के साथ ही उससे पूछा, "तुम ससुराल जाओगे?"

रहमत ने हंसकर कहा, "हां, वहीं तो जा रहा हूं!"

रहमत ताड़ गया कि उसका यह उत्तर मिनी के चेहरे पर हंसी न ला सका; और तब उसने हाथ दिखाकर कहा, "ससुर को मारता, पर क्या करूं हाथ बंधे हुए हैं।"

छुरा चलाने के कसूर में रहमत को कई साल की सजा हो गई।

काबुली का खयाल धीरे-धीरे मन से बिलकुल उतर गया। हम लोग जब अपने घर में बैठकर हमेशा के अभ्यास के अनुसार नित्य का काम-धन्धा करते हुए आराम से दिन बिता रहे थे तब एक स्वाधीन पर्वतचारी पुरुष जेल की दीवारों के अन्दर कैसे साल पर साल बिता रहा होगा, यह बात हमारे मन में कभी उदित ही नहीं हुई।

और, चंचलहृदया मिनी का आचरण तो और भी लज्जाजनक था, यह बात उसके बाप को भी माननी पड़ेगी। उसने सहज ही अपने पुराने मित्र को भूलकर पहले तो नबी सईस के साथ मित्रता जोड़ी; फिर क्रमशः जैसे-जैसे उसकी उमर बढ़ने लगी वैसे-वैसे सखाओं के बदले एक

के बाद एक उसकी सखियां जुटने लगीं। और तो क्या, अब वह अपने बापूजी के लिखने के कमरे में भी नहीं दिखाई देती। मेरा तो एक तरह से उसके साथ सम्बन्ध ही टूट गया है।

कितने ही साल बीत गए। सालों बाद आज फिर एक शरद्ऋतु आई है। मिनी की सगाई पक्की हो गई है। पूजा की छुट्टियों में ही उसका ब्याह हो जाएगा। कैलासवासिनी के साथ-साथ अब की बार हमारे घर की आनन्दमयी मिनी भी मां-बाप के घर में अन्धेरा करके सास-ससुर के घर चली जाएगी।

प्रभात का सूर्य बड़ी सुन्दरता से उदय हुआ। वर्षा के बाद शरद्-ऋतु की यह नई धुली हुई धूप मानो सुहागे में गले निर्मल सोने की तरह रंग दे रही है। कलकत्ता की गलियों के भीतर परस्पर सटे हुए पुराने ईंट-झरे गन्दे मकानों के ऊपर भी इस धूप की आभा ने एक तरह का अनुपम लावण्य फैला दिया है।

हमारे घर पर आज अन्धेरे से ही शहनाई बज रही है। मुझे ऐसा लग रहा है जैसे वह मेरे कालेजे की पसलियों में से रो-रोकर बज रही हो। उसकी करुण भैरवी रागिनी मानो मेरी आसन्न विच्छेद-व्यथा को शरद्ऋतु की धूप के साथ सम्पूर्ण विश्व-जगत् में व्याप्त किए दे रही हो।

मेरी मिनी का आज ब्याह है।

सवेरे से बड़ा भारी झमेला है। हर वक्त लोगों का आना-जाना जारी है। आंगन में बांस बांधकर मण्डप छाया जा रहा है। हरएक कमरे में और बरामदे में झाड़ लटकाए जा रहे हैं और उनकी टन्-टन् आवाज़ मेरे कमरे में आ रही है। 'चलो रे', 'जल्दी करो', 'इधर आओ' की तो कोई शुमार ही नहीं।

मैं तब अपने लिखने-पढ़ने के कमरे में बैठा हुआ खर्च का हिसाब लिख रहा था। इतने में रहमत आया और सलाम करके खड़ा हो गया।

पहले तो मैं उसे पहचान ही न सका। उसके पास न तो झोली थी, न वैसे लम्बे-लम्बे बाल थे और न चेहरे पर पहले जैसा तेज ही था। अन्त में उसकी मुस्कराहट देखकर पहचान सका कि वह रहमत है।

मैंने पूछा, "क्यों रहमत, कब आए?"

उसने कहा, "कल शाम को जेल से छूटा हूं।"

सुनते ही उसके शब्द मेरे कानों में खट् से बज उठे। किसी खूनी को मैंने कभी आंखों से नहीं देखा, उसे देखकर मेरा सारा मन एकाएक सिकुड़-सा गया। मेरी यही इच्छा होने लगी कि आज के इस शुभ दिन में यह आदमी यहां से चला जाए तो अच्छा हो।

मैंने उससे कहा, "आज हमारे घर में एक ज़रूरी काम है, सो आज मैं उसमें लगा हुआ हूं। आज तुम जाओ, फिर आना।"

मेरी बात सुनकर वह उसी समय जाने को तैयार हो गया। पर दरवाज़े के पास जाकर कुछ इधर-उधर करके बोला, "बच्ची को ज़रा नहीं देख सकता?"

शायद उसे यही विश्वास था कि मिनी अब तक वैसी ही बच्ची बनी है। उसने सोचा कि मिनी अब भी पहले की तरह 'काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला' चिल्लाती हुई दौड़ी चली आएगी। उन दोनों के उस पुराने कौतुकजन्य हास्यालाप में किसी तरह की रुकावट न होगी। यहां तक कि पहले की मित्रता की याद करके वह एक पेटी अंगूर और एक कागज़ के दोने में थोड़ी-सी किसमिस और बादाम, शायद अपने देश के किसी आदमी से मांग-मूग कर लेता आया था। उसकी पहले की वह झोली उसके पास नहीं थी।

मैंने कहा, "आज घर में बहुत काम है। आज किसीसे मुलाकात न हो सकेगी।"

मेरा जवाब सुनकर वह कुछ उदास-सा हो गया। खामोशी के साथ उसने एक बार मेरे मुंह की ओर स्थिर दृष्टि से देखा। फिर, 'सलाम बाबू साहब' कहकर दरवाज़े के बाहर निकल गया।

मेरे हृदय में न जाने कैसी एक वेदना-सी उठी। मैं सोच ही रहा था कि उसे बुलाऊं, इतने में देखा तो वह खुद ही आ रहा है।

पास आकर बोला, "ये अंगूर और कुछ किसमिस-बादाम बच्ची के लिए लाया था—उसको दे दीजिएगा।"

मैंने उसके हाथ से सामान लेकर उसे पैसे देने चाहे, पर उसने मेरा हाथ थाम लिया, कहने लगा, "आपकी बहुत मेहरबानी है बाबू सा'ब, हमेशा याद रहेगी, पैसा रहने दीजिए।" ज़रा ठहरकर फिर बोला, "बाबू सा'ब, आपकी जैसी मेरी भी देश में एक लड़की है। मैं उसकी याद कर-करके आपकी बच्ची के लिए थोड़ी-सी मेवा हाथ में

ले आया करता हूं। मैं तो यहां सौदा बेचने नहीं आता।"

कहते हुए उसने अपने ढीले-ढाले कुरते के अंदर हाथ डालकर छाती के पास से एक मैला-कुचैला कागज़ का टुकड़ा निकाला; और बड़े जतन से उसकी तह खोलकर दोनों हाथों से उसे फैलाकर मेरी टेबल पर रख दिया।

देखा कि कागज़ पर नन्हे-से हाथ के छोटे-से पंजे की छाप है। फोटो नहीं, तैलचित्र नहीं, सिर्फ हाथ में थोड़ी-सी कालिख लगाकर कागज़ के ऊपर उसीका निशान ले लिया गया है। अपनी लड़की की इस याददाश्त को छाती से लगाकर रहमत हर साल कलकत्ता की गली-कूचियों में सौदा बेचने आता है; और तब यह कालिखचित्र मानो उसकी बच्ची के हाथ का कोमल स्पर्श उसके बिछुड़े हुए विशाल वक्ष-स्थल में सुधा उंडेलता रहता है।

देखकर मेरी आंखें भर आईं। और फिर इस बात को मैं बिलकुल ही भूल गया कि वह एक काबुली मेवावाला है और मैं एक उच्च वंश का रईस हूं। तब मैं महसूस करने लगा कि जो वह है, वही मैं हूं। वह भी बाप है, मैं भी बाप हूं। उसकी पर्वतवासिनी छोटी-सी पार्वती के हाथ की निशानी ने मेरी ही मिनी की याद दिला दी। मैंने उसी वक्त मिनी को बाहर बुलवाया। हालांकि इसपर भीतर बहुत कुछ आपत्ति की गई, किन्तु मैंने उसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। ब्याह की पूरी पोशाक और ज़ेवर-गहने पहने हुए बेचारी वधूवेशिनी मिनी मारे शरम के सिकुड़ी हुई-सी मेरे पास आकर खड़ी हो गई।

उसे देखकर रहमत काबुली पहले तो सकपका गया! उससे पहले जैसी बातचीत करते न बना।

बाद में वह हंसता हुआ बोला, "लल्ली, सास के घर जा रही है क्या?"

मिनी अब सास के मानी समझने लगी है, लिहाजा अब उससे पहले की तरह जवाब देते न बना। रहमत की बात सुनकर मारे शरम के उसका मुंह लाल-सुर्ख हो उठा। उसने मुंह फेर लिया। मुझे उस दिन की बात याद आ गई जबकि काबुली के साथ मिनी का प्रथम परिचय हुआ था। मन में एक व्यथा-सी जाग उठी।

मिनी के चले जाने पर एक गहरी उसांस भरकर रहमत वहीं ज़मीन पर बैठ गया। शायद उसकी समझ में यह बात एकाएक स्पष्ट

हो उठी कि उसकी लड़की भी इतने दिनों में बड़ी हो गई होगी ; और उसके साथ भी उसे अब फिर से नई जान-चीन्ह करनी पड़ेगी ; शायद उसे अब वह ठीक पहले की-सी वैसी की वैसी न पाएगा। इन आठ वर्षों में उसका क्या हुआ होगा, कौन जाने ! सवेरे के वक्त शरद् की स्निग्ध सूर्य-किरणों में शहनाई बजने लगी, और रहमत कलकत्ता की एक गली के भीतर बैठा अफगानिस्तान के मरु पर्वत का दृश्य देखने लगा।

मैंने एक नोट निकालकर उसके हाथ में दिया; और कहा, "रहमत, तुम देश चले जाओ, अपनी लड़की के पास। तुम दोनों के मिलन-सुख से मेरी मिनी सुख पाएगी।"

रहमत को रुपये देने के बाद ब्याह के हिसाब में से मुझे उत्सव-समारोह के दो-एक अंग छांटकर निकाल देने पड़े। जैसी मन में थी वैसी रोशनी नहीं करा सका, अंगरेजी बाजे भी नहीं आए, घर में औरतें बड़ी नाराज़ी दिखाने लगीं, सब कुछ हुआ, फिर भी, मेरा खयाल है कि आज एक अपूर्व मंगल-प्रकाश से हमारा शुभ उत्सव उज्ज्वल हो उठा।

[मूल रचना : अगहन, १९४९]

छुट्टी

गांव के सब लड़कों के सरदार फटिकचन्द्र चक्रवर्ती के दिमाग में अचानक एक नया खेल सूझा। नदी के किनारे बड़ा भारी एक साखू का लट्ठा मस्तूल के रूप में रूपान्तरित होने की प्रतीक्षा में पड़ा था, तय हुआ कि उसे सब मिलकर लुढ़काकर नदी में बहा दें।

जिस आदमी का लट्ठा है, ठीक ज़रूरत के वक्त उसे कितना अचम्भा होगा, कितना गुस्सा आएगा और कितनी परेशानी होगी, इस बात का मन ही मन अन्दाजा लगाकर लड़कों ने इस प्रस्ताव का पूरी

तरह से अनुमोदन किया।

कमर बांधकर सब कोई जब बड़ी दिलचस्पी के साथ इस काम में जुटने को तैयार हो गए तब फटिक का छोटा भाई माखनलाल बड़ी गम्भीरता से उस लट्ठे पर जमकर बैठ गया। उसकी खेल-सम्बन्धी इस उदार उदासीनता को देखकर और सब लड़के मुरझा-से गए।

एक ने पास जाकर डरते-डरते उसे धक्का भी दिया, पर उससे वह रंचमात्र भी विचलित नहीं हुआ। आश्चर्य है, चारों तरफ इतना प्रलोभन होने पर भी, वह अकालपक्व मानवपुत्र ज्यों का त्यों चुपचाप बैठा हुआ दुनिया के सब तरह के खेल-कूदों की असारता के विषय में गम्भीर विचार करता रहा, कोई भी उसे विचलित न कर सका।

अन्त में फटिक ने आकर बड़े रोब के साथ उछलकर उससे कहा, "देख, मार खाएगा! नहीं तो उठ अभी!"

इसपर उसने और भी ज़रा हिल-डुलकर अपने आसन को खूब मज़बूत बना लिया।

ऐसी दशा में, सर्वसाधारण के सामने अपने राजकीय सम्मान की रक्षा के लिए फटिक का कर्तव्य था कि वह कहना न माननेवाले छोटे भाई की कनपटी पर फौरन ही कसके एक तमाचा जड़ देता, लेकिन हिम्मत न पड़ी। फिर उसने ऐसा भाव धारण किया कि मानो वह चाहे तो अभी उसे अच्छी तरह दुरुस्त कर सकता है, पर करता नहीं; क्योंकि पहले से अबकी उसके दिमाग में और भी एक अच्छा खेल सूझा है, और उसमें इससे भी ज्यादा मज़ा आएगा। उसने प्रस्ताव किया कि माखन समेत उस लट्ठे को लुढ़का दिया जाए।

माखन ने सोचा कि इससे उसीका गौरव है; परन्तु यह बात उसके या और किसीके भी दिमाग में नहीं आई कि इसमें और-और पार्थिव गौरवों की तरह आनुसांगिक विपत्ति की भी संभावना है।

लड़कों ने कमर बांधकर लट्ठा लुढ़काना शुरू किया, 'मारो ठेला हेइयो, और भी थोड़ा हेइयो, शाबाश जवान हेइयो!' लट्ठा एक चक्कर घूम भी न पाया कि इतने में माखन अपने गाम्भीर्य, गौरव और तत्त्वज्ञान समेत चारों खाने चित्त ज़मीन पर जा गिरा।

खेल के प्रारम्भ में ही ऐसा आशातीत फल पाकर और-और लड़के बड़े खुश हो उठे; मगर फटिक ज़रा कुछ घबरा-सा गया। माखन उसी दम बड़ी फुर्ती से उठकर फटिक पर टूट पड़ा, और बिलकुल अन्धे की

तरह दोनों हाथों से मारने-नोचने चिपट गया। उसने फटिक की नाक पर, गाल पर, जहां पाया नोच खाया, और फिर रोते-रोते घर की तरफ चल दिया। बस, खेल खतम हुआ।

फटिक थोड़ी-सी कास उखाड़कर उसे हाथ में लिए हुए एक अध-डूबी नाव की नोंक पर जा बैठा, और चुपचाप बैठा-बैठा कास की जड़ चबाने लगा।

इतने में दूसरे गांव की एक नाव आकर घाट पर लगी। उसपर से एक अधेड़ आदमी, जिसकी मूंछें काली और बाल सफेद थे, उतरा। उसने लड़के से पूछा, "चक्रवर्तियों का घर किधर है, लड़के?"

लड़के ने कास चबाते हुए कहा, "वो रहा!" पर, उसने किधर इशारा किया, कुछ समझ में नहीं आया।

उसने फिर पूछा, "कहां?" जवाब मिला, "मैं नहीं जानता।" कहकर पहले की तरह फिर वह हाथ की घास से रस ग्रहण करने लगा; और पथिक बेचारा और किसीकी मदद से अभीष्ट स्थान की तलाश करने चल दिया।

कुछ देर बाद बाघा नौकर ने आकर फटिक से कहा, "फटिक भइया, मांजी बुला रही हैं।"

फटिक ने कहा, "नहीं जाता, जा।"

पर बाघा पूरा बाघा ही निकला। उसने ज़बानी जमा-खर्च न करके तुरन्त उसे गोद में लटकाया और चल दिया। फटिक मारे गुस्से के हाथ-पैर फटकता रहा, पर व्यर्थ।

फटिक को देखते ही उसकी मां खूब गुस्सा हुई; और बोली, "फिर तैंने माखन को मारा!"

फटिक ने कहा, "नहीं, मैंने नहीं मारा।"

"फिर झूठ बोला?"

"हरगिज़ नहीं मारा। माखन से पूछो न!"

माखन से पूछा गया तो उसने अपनी पहले की शिकायत का समर्थन करते हुए कहा, "हां, मारा है।"

अब फटिक से न रहा गया। तेज़ी से लपककर उसने माखन के गाल पर कसकर एक तमाचा जड़ दिया, और बोला, "फिर झूठ!"

मां ने माखन का पक्ष लेकर फटिक को ज़ोर से झकझोर डाला और ऊपर से कसकर दो-तीन थप्पड़ जड़ दिए। फटिक ने मां को ढकेल

दिया।

मां ने चिल्लाकर कहा, "एं, तू मां पर हाथ उठाएगा!"

इतने में वह आदमी भी आ पहुंचा, जिसने नाव से उतरकर फटिक से चक्रवर्तियों के मकान का पता पूछा था। घर में घुसते ही उसने कहा, "यह क्या हो रहा है तुम लोगों में!"

फटिक की मां ने आश्चर्य और आनन्द में आकर कहा, "अरे, ये तो भइया आ गए! तुम कब आए, भइया?" और भाई को प्रणाम किया।

बहुत दिन हुए, फटिक की मां के भइया पछांह की तरफ नौकरी पर गए थे। इस बीच में फटिक की मां के दो लड़के हुए और वे बड़े भी हो गए। आखिरी लड़का होने के कुछ दिन बाद ही उसके पति का देहान्त हो गया। पर तब से एक बार भी उसके भइया अपनी विधवा बहन से मिलने नहीं आए।

आज बहुत दिन बाद छुट्टी पाकर विशम्भर बाबू अपनी बहन से मिलने आए हैं।

कुछ दिन खूब हंसी-खुशी में कटे। अन्त में, विदा होने के दो-एक दिन पहले, विशम्भर बाबू ने जब बहन से लड़कों की पढ़ाई-लिखाई और दिमागी तरक्की के बारे में पूछताछ की, तो मालूम हुआ कि फटिक बड़ा ढीठ, बड़ा उजड्ड हो गया है; पढ़ने में उसका ज़रा भी मन नहीं लगता; और माखन शान्त है, सुशील है, पढ़ने-लिखने में भी तेज़ है।

बहन ने कहा, "फटिक के मारे मेरे तो नाक में दम आ गया है।"

सुनकर विशम्भर बाबू ने कहा कि फटिक को वे कलकत्ता ले जाकर वहीं अपने पास रखकर पढ़ाएंगे। विधवा इस प्रस्ताव पर सहज ही में राज़ी हो गई। और फटिक से पूछने लगी, "क्यों रे फटिक, मामा के साथ कलकत्ता जाएगा?"

फटिक ने उछलकर जवाब दिया, "हां, जाऊंगा।"

यद्यपि फटिक को भेजने में उसकी मां को कोई आपत्ति न थी, क्योंकि उसको हमेशा यह आशंका बनी रहती थी कि किसी न किसी दिन वह माखन को नदी में ढकेल देगा, या सिर ही फोड़ देगा, या और काई कौतुक कर बैठेगा, उसका कोई ठीक थोड़े ही है; मगर फिर

भी कलकत्ता जाने के लिए उसका ऐसा आग्रह देखकर वह ज़रा कुछ उदास हो गई। और फटिक का यह हाल कि 'कब जाओगे, मामा' पूछते-पूछते मामा के नाकों दम कर दिया। मारे खुशी के उसे रात को नींद तक न आती।

कलकत्ता में, ननसाल पहुंचने पर सबसे पहले उसकी मामी से बातचीत हुई। मामी अपने परिवार में अनावश्यक संख्या-वृद्धि से मन ही मन खूब खुश हुई या नहीं, सो हम नहीं कह सकते। वह अपने तीन लड़कों को लेकर अपने नियम के अनुसार गृहस्थी चला रही थी; उसके बीच में सहसा एक तेरह साल के अपरिचित अशिक्षित गांव के लड़के को छोड़ देने के मानी हैं घर में एक क्रान्ति पैदा कर देना। विश्वम्भर की इतनी उमर हो चुकी, पर ज़रा भी अगर शऊर हो!

सच पूछा जाए तो तेरह-चौदह वर्ष के लड़के के बराबर संसार में दूसरी कोई बला ही नहीं। न तो उसकी कुछ शोभा है और न वह किसी काम में ही आता है। न तो उसके प्रति स्नेह ही उमड़ता है और न उसके संग-सुख की कोई खास चाह ही होती है। उसके मुंह से आधी-आधी तोतली बोली निकले तो वह इतराने में शामिल है, और साफ-साफ पक्की बात कहता है तो वह बुजुर्गी-सी जान पड़ती है; मतलब यह है कि उसका बोलना ही प्रगल्भता है। यहां तक कि कपड़े-लत्तों के माप का कुछ खयाल न करके अचानक भद्दे तौर से उसका बढ़ते जाना भी लोगों की निगाह में एक बेहूदा हिमाकत-सी मालूम होती है। उसके बचपन का लालित्य और कण्ठ का माधुर्य जो सहसा चला जाता है, उसके लिए लोग उसीको मन ही मन अपराधी समझते हैं। बचपन और जवानी के बहुत-से दोष माफ किए जा सकते हैं, पर इस उमर की कोई स्वाभाविक अनिवार्य त्रुटि भी असह्य मालूम होती है।

और वह खुद भी सर्वदा मन ही मन इस बात को महसूस करता रहता है कि दुनिया में कहीं भी वह ठीक-ठीक जंचता नहीं, इसलिए अपने अस्तित्व पर हमेशा वह लज्जित और क्षमाप्रार्थी-सा बना रहता है। परन्तु मुश्किल तो यह है कि ठीक इसी उमर में ऐसे लड़कों के मन में स्नेह पाने के लिए सीमा से कुछ ज़्यादा व्याकुलता पैदा हो जाती है। इस समय अगर वह किसी सहृदय व्यक्ति से स्नेह-प्यार या मित्रता-सी कोई चीज़ पा जाए, तो उसका वह खरीदा हुआ गुलाम-सा बन

जाए। लेकिन अफसोस कि उससे स्नेह करने में किसीकी हिम्मत ही नहीं पड़ती, क्योंकि फिर उसे सब कोई 'सिर चढ़ाना' समझने लगते हैं। यही वजह है कि इस उमर में ऐसे बच्चों का चेहरा और मन का भाव लगभग बिना मालिक के राह के कुत्ते जैसा हो जाता है।

इसलिए, ऐसी दशा में, मां के घर के सिवा दूसरी कोई जगह ऐसे बच्चों के लिए नरक से कम दुःखदायक नहीं होती। चारों तरफ की स्नेहशून्य विरागता कदम-कदम पर उसको कांटे की तरह चुभती रहती है। इस उमर में साधारणतः नारी-जाति किसी एक श्रेष्ठ स्वर्ग-लोक की दुर्लभ वस्तु-सी मालूम होती है, और इसीलिए किसी नारी की तरफ से अनादर होना उसके लिए बहुत ही वेदनादायक होता है।

फटिक अपनी मामी की स्नेहहीन आंखों में अशुभ ग्रह की तरह खटकने लगा ; और उसे यह बात सबसे ज्यादा अखरने लगी। उसकी मामी अगर उससे कभी किसी काम के लिए कहती, तो वह मारे खुशी के फूला नहीं समाता ; और उस खुशी में वह जरूरत से ज्यादा काम कर डालता। लेकिन मामी ही जब उसके उत्साह का दमन करके कहने लगती कि 'बस, अब बहुत हो गया, बहुत हो गया। रहने दो ! अब तुम जाकर अपने काम में मन लगाओ ; जाओ, जरा पढ़ो-लिखो।'—तो उसे अपनी मानसिक उन्नति के प्रति मामी का इतना ज्यादा ध्यान देना अत्यन्त निष्ठुर अन्याय-सा मालूम होता।

घर के भीतर ऐसा अनादर, और बाहर भी ऐसी कोई जगह नसीब नहीं जहां जाकर जरा दो घड़ी मन बहला ले या भरपेट ऊधम मचा ले। घर की चहारदीवारी के अन्दर कैद रहते-रहते उसे अपने उस गांव की ही याद आने लगी जिससे उकताकर वह बड़े शौक से शहर चला आया था। वहां का वह खुला हुआ मैदान जहां दिन-भर पतंग उड़ा करती थी, नदी का वह किनारा जहां बांस की बांसुरी की तान छिड़ा करती थी और जब मन में आया तब पानी में कूदकर तैरने की छूट-पट्टी थी, वे सब साथ के खिलाड़ी लड़के, वह ऊधम, वह आज़ादी और सबसे बढ़कर वह रात-दिन बकझक करनेवाली और मारने-पीटने वाली मां दिन-रात उसके बेबस मन को अपनी ओर खींचने लगी।

बेचारे उस लज्जित शंकित दुबले-पतले लम्बे असुन्दर बालक के अन्तःकरण में बार-बार जानवरों जैसा एक तरह का नासमझ प्रेम,

सिर्फ पास जाने की अंध इच्छा, सिर्फ एक बिन देखी चीज़ के लिए अव्यक्त आकुलता, गोधूलि के समय मातृहीन बछड़े की तरह का केवल एक आंतरिक 'मां-मां' क्रन्दन उमड़ने लगा।

स्कूल-भर में उससे बढ़कर मूर्ख और पढ़ने से जी चुरानेवाला दूसरा कोई लडका ही न था। कोई बात पूछने पर वह ऊपर को मुंह बाए खड़ा रहता। मास्टर साहब जब मारना शुरू करते तो वह बोझ से लदे गधे की तरह चुपचाप सब सह लेता। लड़कों की जब खेल की छुट्टी होती तब वह जंगल के पास खड़ा-खड़ा दूर के मकानों की छत देखा करता। जब उस दोपहर की घाम में किसी छत पर एक-दो लड़की-लड़के खेल के बहाने क्षण-भर के लिए दिखाई देते तब उसका चित्त अधीर हो उठता।

एक दिन उसने मन ही मन दृढ़ निश्चय करके और खूब हिम्मत बांधकर अपने मामा से पूछा, "मामा, मैं मां के पास कब जाऊंगा?"

मामा ने कहा, "स्कूल की छुट्टी होने दो।"

कुआर में दशहरे की छुटी होगी। उसे तो अभी बहुत दिन हैं!

एक दिन की बात है कि फटिक से स्कूल की किताबें खो गईं। एक तो वैसे ही पाठ याद नहीं होता, उसपर खो गईं किताबें? बेचारा बिलकुल ही लाचार हो गया। मास्टर ने उसे रोज़मर्रा मारना-पीटना और बेइज़्ज़त करना शुरू कर दिया। स्कूल में उसकी ऐसी दशा हो गई कि उसके ममेरे भाई भी उसके साथ सम्बन्ध स्वीकार करने में शर्मिन्दा होने लगे। फटिक को अपमानित होते देखते तो वे और-और लड़कों से कहीं ज़्यादा खुशी ज़ाहिर करते।

जब बहुत ही असह्य हो उठा तब फटिक अपनी मामी के पास जाकर बड़े भारी अपराधी की तरह खड़ा होकर बोला, "मेरी किताबें खो गई हैं।"

मामी अपने ओठों के दोनों किनारों पर क्रोध की रेखा अंकित करते हुए कहा, "अच्छा किया! मैं तुम्हारे लिए महीने में पांच-पांच बार किताब नहीं खरीदवा सकती।"

फटिक चुपचाप लौट आया। इस बात का खयाल करके कि वह पराया पैसा बरबाद कर रहा है, उसे अपनी मां पर बड़ा भारी गुमान हुआ और क्रोध भी आया। अपनी हीनता और दीनता की शरम से वह गड़-गड़ गया।

स्कूल से लौटने के बाद उसी दिन रात को फटिक के सिर में दर्द शुरू हुआ और भीतर से उसका जी घबराने लगा। वह समझ गया कि उसे बुखार चढ़ रहा है। साथ ही यह भी महसूस करने लगा कि अगर वह बीमार पड़ गया तो मामी के लिए फजूल की एक आफत और बन जाएगा। उसकी यह बीमारी उनके लिए कैसा जी जलावा स्वरूप धारण करेगी, फटिक इस बात को भी अच्छी तरह समझ रहा था। और बीमारी की हालत में उस जैसा अकर्मण्य, बुद्धिहीन, भोंदू लड़का संसार में अपनी मां के सिवा और भी किसीके द्वारा सेवा पा सकता है, ऐसी उम्मीद करने में उसे शरम होने लगी।

दूसरे दिन सवेरे फटिक लापता हो गया। चारों तरफ पड़ोसियों के घर छान डाले गए, पर कहीं भी उसका पता न लगा।

उस दिन, आधी रात से ही, सावन-भादों की सी मूसलाधार वर्षा हो रही थी, इसलिए उसके ढूंढ़ने में लोगों को फजूल में बहुत भीगना और हैरान होना पड़ा। अन्त में जब कहीं भी उसका पता न लगा तब विश्वम्भर बाबू ने थाने में खबर दे दी।

सारा दिन इसी तरह बीत गया। शाम के बाद एक गाड़ी विश्वम्भर बाबू के दरवाज़े से आकर लगी। उस समय भी वर्षा ज्यों की त्यों जारी थी, सड़क पर घुटनों पानी जम रहा था।

दो सिपाहियों ने मिलकर फटिक को गाड़ी से उतारा और विश्वम्भर बाबू के पास पहुंचाया। देखा कि सिर से लेकर पैर तक वह पानी से भीगा हुआ है, तमाम देह पर कीच थुपी हुई है, मुंह और आंखें लाल सुर्ख हो रही हैं, जाड़े से वह थर-थर कांप रहा है। विश्वम्भर बाबू उसे दोनों हाथों से उठाकर भीतर ले गए।

मामी उसे देखते ही बोल उठी, "क्यों फजूल में पराये लड़के को लेकर जान आफत में डाल रहे हो! भेज क्यों नहीं देते इसे गांव को?"

वास्तव में बात यह थी कि तमाम दिन मारे फिकर के उन्होंने कुछ खाया-पीया नहीं था, और अपने लड़कों पर भी नाहक में गुस्सा होकर चिल्ल-पुकार कर रहे थे।

फटिक ने रोते हुए कहा, "मैं तो जा रहा था मां के पास। मुझे ये लोग झूठमूठ को पकड़ लाए हैं।"

फटिक को बड़े ज़ोर का बुखार चढ़ा। सारी रात वह बाय में ऊटपटांग बकता रहा। विश्वम्भर बाबू डाक्टर ले आए।

फटिक ने एक बार अपनी लाल-लाल आंखें खोलकर ऊपर छत की ओर हतबुद्धि की तरह देखते हुए कहा, "मामाजी, मेरी छुट्टी हो गई क्या?"

विश्वम्भर बाबू रूमाल से आंसू पोंछते हुए और बुखार जलते हुए बच्चे के कमज़ोर हाथ को बड़े स्नेह से अपनी गोद में रखकर उसके पास बैठे रहे।

फटिक फिर बड़बड़ाने लगा, "मां, मुझे मारो मत, मां! मैंने कुछ नहीं किया, मां!"

दूसरे दिन, ज़रा दिन चढ़ने पर, कुछ देर के लिए फटिक को होश आया, और न जाने किसको देखने की आशा से वह घर के चारों तरफ आंखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। और अन्त में थककर, हताश होकर वह चुपचाप दीवार की तरफ मुंह करके करवट लेकर सो गया।

विश्वम्भर बाबू ने शायद उसके मन की बात ताड़ ली, उसके कान के पास मुंह ले जाकर उन्होंने धीरे से कोमल स्वर में कहा, "फटिक बेटा, तेरी मां को बुलवाया है—अब आती ही होगी, अच्छा बेटा!"

उसके बाद दूसरा दिन भी गुज़र गया। डाक्टर ने चिन्तित और उदास चेहरा बनाकर कहा, "हालत तो बहुत खराब है।"

विश्वम्भर बाबू टिमटिमाती हुई बत्ती के उजाले में रोग-शय्या के पास बैठे हुए फटिक की मां के लिए प्रतिक्षण प्रतीक्षा करने लगे।

फटिक जहाज़ के खलासियों की तरह, उन्हींकी राग में, कहने लगा, "एक बांव मिला नहीं, दो बांव मि-ला-आ-आ नहीं।" कलकत्ता आते समय कुछ दूर तक वह स्टीमर में आया था, स्टीमर के खलासी लोग पानी में लोहा शुदा रस्सी डालकर गाने के स्वर में पानी मापते थे। बाय में पड़ा-पड़ा फटिक उन्हीं लोगों के अनुकरण पर करुणस्वर से पानी मापने लगा। किन्तु जिस अपार समुद्र में उसकी जीवन-नैया गोता खा रही थी उससें रस्सी डालकर बेचारे को कहीं भी उसकी थाह नहीं मिल रही थी।

इसी समय आंधी की तरह फटिक की मां घर के अन्दर आ

पहुंची; और ऊंचे स्वर में रो-रोकर शोक करने लगी। विश्वम्भर ने बड़ी मुश्किल से बहन के शोकोच्छ्वास को रोका। बेचारी अपने प्यारे लाल की खाट पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी और रो-रो पुकारने लगी, "बेटा रे, अरे मेरा फटिक रे, मेरा सुआ रे!"

फटिक ने मानो बड़ी आसानी से इस पुकार का जवाब देते हुए कहा, "ऐं!"

मां ने फिर पुकारा, "अरे मेरा बेटा रे, फटिक रे! अरे, मैं आ गई रे, आ गई!"

फटिक ने धीरे-धीरे करवट लेकर किसीकी ओर लक्ष्य न करके बहुत धीमे और विकृत स्वर में कहा, "मां, अब मेरी छुट्टी हो गई, मां, अब मैं घर जाता हूं, मां!"

[मूल रचना : अगहन, १६४६]

निशीथ में

"डाक्टर! डाक्टर!"

नाक में दम कर दिया। यह भी कोई वक्त है—आधी रात को!

आंखें खोलीं तो देखा कि अपने ज़मीदार साहब पधारे हैं, दक्षिणाचरण बाबू। भड़भड़ाकर उठ बैठा। टूटी पुश्त की पुश्तैनी कुरसी खींचकर उन्हें बैठने के लिए कहा, और घबराहट के साथ उनके चेहरे की तरफ देखने लगा।

घड़ी की तरफ देखता हूं, तो ढाई बज रहे हैं!

चेहरा उनका सफेद फक पड़ गया है, आंखें बाहर निकली आ रही हैं। वे घबराहट के साथ कहने लगे, "आज रात को फिर वही उपद्रव शुरू हो गया, डाक्टर, तुम्हारी दवा कुछ भी काम नहीं करती।"

मैंने ज़रा संकोच के साथ कहा, "शायद आपने शराब की मात्रा फिर बढ़ा दी है?"

दक्षिणाचरण बाबू बहुत नाराज़ हुए। बोले, "यह तुम्हारा कोरा भ्रम है। शराब नहीं, शुरू से आखिर तक पूरा किस्सा सुने बगैर तुम असली वजह समझ ही नहीं सकते।"

ताक में टीन की छोटी-सी किरासिन तेल की बत्ती टिमटिमा रही थी, मैंने उसकी बत्ती ज़रा उकसा दी। बत्ती कुछ जाग उठी और खूब धुआं उगलने लगी। बदन पर धोती का पल्ला डालकर मैं एक अखबार-बिछे चीड़ के बकस पर बैठ गया। दक्षिणाचरण बाबू कहने लगे :

"मेरी पहली स्त्री के समान घर संभालनेवाली गृहणी मिलना बहुत ही कठिन है। मगर, मेरी उमर तब ज्यादा नहीं थी, और उस उमर में तुम जानते हो, तबीयत में रस-रंग कुछ ज्यादा होता ही है। उसपर फिर मैंने काव्यशास्त्र का भी काफी अध्ययन किया था। इसलिए सिर्फ घर संभालनेवाली गृहिणी से मेरा मन नहीं भरता था। अकसर मुझे कालिदास का वह श्लोक याद आया करता, "गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।' किन्तु मेरी गृहिणी पर उस ललित कलाविधि का कोई भी उपदेश काम न करता था, और जब कभी मैं सखी-भाव से उससे प्रणय-सम्भाषण करता तो वह उसे हंसी में उड़ा देती। गंगा के स्रोत में जैसे इन्द्र का ऐरावत परेशान हुआ था, ठीक वैसे ही, उसकी हंसी के सामने बड़े-बड़े काव्य के टुकड़े और प्रेम के अच्छे-अच्छे सम्भाषण क्षण में अपने स्थान से गिरकर चूर-चूर हो जाया करते। सचमुच उसकी हंसी में ऐसी ही एक अद्भुत शक्ति थी !

उसके बाद, आज चार वर्ष हुए, मुझे एक खतरनाक बीमारी ने बुरी तरह घेर लिया। पहले तो ओठ पर जहरीला फोड़ा हुआ, फिर सन्निपात। मरने तक की नौबत आ गई थी, बचने की कोई आशा ही नहीं थी। एक दिन तो ऐसा हुआ कि डाक्टर भी जवाब दे गए। इतने में मेरे एक रिश्तेदार कहीं से किसी ब्रह्मचारी को पकड़ लाए। उसने गाय के घी के साथ मुझे कोई जड़ी खिला दी। चाहे जड़ी से समझो या तकदीर से, मैं उस बार बाल-बाल बच गया।

उस बीमारी में मेरी स्त्री दिन-रात जी-जान से सेवा करती रही, क्षण-भर के लिए भी कभी उसने विश्राम नहीं किया। बीमारी के वक्त कई दिनों तक एक अबला स्त्री मनुष्य की मामूली शक्ति लेकर, अपनी जान पर खेल कर, जबरदस्त आग्रह और व्याकुलता के साथ द्वार पर

आए हुए यमदूतों से लगातार लड़ती रही। उसके सम्पूर्ण प्रेम ने, सम्पूर्ण हृदय ने अथक परिश्रम और बड़ी-बड़ी कोशिशों से मेरे इस अयोग्य प्राण को मानो मां की छाती से चिपटे हुए दुधमुंहे बच्चे की तरह छिपाकर बचा लिया। खाना नहीं, पीना नहीं, सोना नहीं, मेरे सिवा संसार की और किसी चीज़ की तरफ उसका ध्यान ही न था।

अन्त में यमदूतों को, हारे हुए शेर की तरह, मुझे मैदान में छोड़-कर चला जाना पड़ा, किन्तु जाते वक्त वे मेरी स्त्री पर ज़ोर का एक पंजा जमा गए।

मेरी स्त्री उन दिनों गर्भवती थी। थोड़े दिन बाद उसके एक मरी हुई सन्तान हुई। उसके बाद से ही उसे एक साथ कई जटिल बीमारियों ने घेर लिया। तब फिर मैंने उसकी सेवा करना शुरू कर दिया। इससे वह बहुत ही चंचल और परेशान हो उठी। कहने लगी, 'अरे, यह क्या कर रहे हो तुम, लोग क्या कहेंगे ? इस तरह दिन-रात तुम मेरे कमरे में मत आया-जाया करो।'

रात को अगर कहीं, इस ढंग से कि अपने लिए ही हवा कर रहा हूं, उसके माथे पर हवा करने लगता, तो चट से वह हाथ से पंखा छीन लेती। किसी दिन अगर उसके पास रहने के कारण मुझे खाने-पीने में दस-पांच मिनट की देर हो जाती, तो वह भी उसके लिए परेशानी का कारण बन जाती, और वह वक्त पर खाने-पीने के लिए निहोरे करने लगती। ज़रा-सी सेवा की नहीं कि चट से नाराज़ हो जाती। वह कहा करती थी, 'मरदों को इतनी 'अति' की नहीं करनी चाहिए।'

हमारा वह बराहनगर वाला मकान शायद तुमने देखा होगा। मकान के सामने ही बगीचा है, और बगीचे के सामने ही गंगा बह रही है। हमारे खास कमरे के नीचे ही दक्षिण की तरफ थोड़ी-सी खाली ज़मीन है, उसे मेरी स्त्री ने अपनी पसन्द की माफिक, अपने हाथ से मेहदी के पौधों से घेरकर मजे का एक छोटा-सा बगीचा बना लिया था। बगीचे-भर में वही एक ऐसी जगह थी जो बिलकुल सीधी-सादी और निहायत देशी ढंग की थी। अर्थात् उसमें सुगन्ध की अपेक्षा सुवर्णों की शोभा और पुष्पों की अपेक्षा पत्तों की विचित्रता ज़्यादा नहीं थी, और न गमलों में बिलकुल मामूली पौधे के बगल में खपाची के सहारे कागज़ की बनी 'लैटिन' नाम की जयपताका ही फहराती थी। वहां तो बेला, जूही, गुलाब, गन्धराज, करवीर और रजनीगन्धा का ठाठ ही ज़्यादा

था। एक खूब बड़ा मौलसिरी का पेड़ था, जिसके नीचे संगमरमर का बड़ा सुहावना चबूतरा बना हुआ था। तन्दुरुस्ती की हालत में वह खुद खड़ी रहकर सुबह-शाम उसे अच्छी तरह धुलवाकर साफ करा लिया करती थी। गरमियों में शाम के वक्त काम-काज से छुट्टी मिलने पर वही उसके बैठने की खास जगह थी। वहां से गंगा दिखाई देती थी, पर गंगा में नावों पर हवाखोरी करनेवाले बाबू लोग उसे नहीं देख सकते थे।

खाट पर पड़े-पड़े उसे बहुत दिन हो गए थे। एक दिन चैत की चांदनी रात को उसने कहा, 'घर के भीतर बन्द पड़े-पड़े मेरा जी घबरा उठा है, आज मुझे एक बार बगीचे में ले चलो, वहां ज़रा बैठूंगी।'

मैं उसे बड़ी सावधानी से पकड़कर धीरे-धीरे उस मौलसिरी के नीचे ले गया, और आहिस्ते से उस चबूतरे पर लिटा दिया। मैं अपनी जांघ पर ही उसका सिर रख सकता था, किन्तु मैं जानता था कि यह बात उसे ज़रा कुछ अनोखी-सी मालूम होगी, इसलिए मैंने एक तकिया लाकर उसके सिर के नीचे रख दिया।

ऊपर से दो-दो एक-एक मौलसिरी के खिले हुए हलके फूल झड़ रहे थे और पेड़ की डालियों की संधों में से पत्तों की छायाशुदा चांदनी आकर उसके मुरझाए हुए चेहरे पर पड़ रही थी। चारों तरफ प्रकृति बिलकुल शान्त, स्थिर और निस्तब्ध थी। मैं उस खुशबू से महकते हुए अन्धकार में उसके पास बैठा हुआ चुपचाप उसके चेहरे की तरफ देख रहा था। और न जाने क्यों मेरी आंखें डबडबा आईं।

मैंने धीरे से और भी पास जाकर अपने दोनों हाथों से उसका एक गरम हाथ उठा लिया। इसपर उसने कोई एतराज़ नहीं किया। कुछ देर तक इसी तरह चुपचाप बैठा रहा। थोड़ी देर बाद मेरा हृदय, मन सहसा भीतर से उमड़-सा उठा, मेरे मुंह से अचानक निकल पड़ा, 'तुम्हारा प्रेम मैं कभी नहीं भूलूंगा।'

मैं उसी वक्त समझ गया कि यह बात कहने की कोई ज़रूरत नहीं थी। मेरी स्त्री मुस्कराकर रह गई। उस मुस्कराहट में गुदगुदी पैदा करनेवाली एक तरह की लज्जा थी, शर्म थी, सुख था, आनन्द था, और कुछ-कुछ अविश्वास की झलक भी। साथ ही, व्यंग की तेज़ धार भी हो तो ताज्जुब नहीं।

मेरी बात के जवाब में मुंह से एक शब्द भी न कहकर सिर्फ

मुस्कराहट से उसने जता दिया कि 'कभी न भूलोगे, ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता, और मैं ऐसी उम्मीद भी नहीं करती।'

उस मीठी, मुलायम और तेज़ पैनी मुस्कराहट के डर से ही मैं कभी अपनी स्त्री के साथ जी खोलकर प्रेम-प्यार की बातें करने की हिम्मत न कर सका था। उसके पीठ पीछे बहुत-सी प्यार की बातें मेरे मन में उठा करतीं, मगर उसके सामने पहुंचते ही वे बिलकुल फालतू-सी मालूम होने लगतीं। छापे के अक्षरों में जिन बातों के पढ़ने से दोनों आंखों से झरझर धारा बहने लगती है उन बातों को मुंह से कहने में क्यों हंसी आती है, इतनी उमर हो गई, इस रहस्य को आज तक मैं समझ नहीं पाया।

मुंह से कोई कुछ कहे तो उसपर बहस की जा सकती है, पर मुस्कराहट पर तो कोई तर्क नहीं किया जा सकता। इसलिए उस वक्त मुझे चुप ही रह जाना पड़ा। इतने में, उधर एक कोयल ने 'कुहू-कुहू' की लड़ी बांध दी। मैं चंचल हो उठा; बैठा-बैठा सोचने लगा, ऐसी चांदनी रात में पिक-वधू के कान क्या बहरे हो गए हैं?

बहुत-बहुत इलाज कराए, पर उसका रोग किसी भी तरह गया ही नहीं। अन्त में डाक्टर ने कहा, 'एक बार कहीं हवा बदलने ले जाइए। देखिए, शायद कुछ फर्क पड़े।'

मैं स्त्री को लेकर इलाहाबाद चला गया।"

कहते-कहते दक्षिणाचरण बाबू एकाएक रुक गए, और सन्देह की निगाह से मेरे मुंह की तरफ देखने लगे। उसके बाद दोनों हथेलियों पर माथा टेककर न जाने क्या सोचने लगे। मैं भी चुप बैठा रहा। आले में किरासिन का लैम्प टिमटिमा रहा था और निस्तब्ध कमरे में मच्छरों की भनभनाहट साफ सुनाई दे रही थी। सहसा मौन भंग करके उन्होंने फिर कहना शुरू किया:

"वहां डाक्टर हारानचन्द्र मेरी स्त्री का इलाज करने लगे।

बहुत दिनों तक इलाज होता रहा, पर कोई फर्क नहीं मालूम हुआ। अन्त में, खुद हैरान होकर और हमें भी परेशान करके एक दिन डाक्टर ने भी कह दिया, और मैं भी समझ गया कि मेरी स्त्री की बीमारी अच्छी होने की नहीं, और साथ ही मेरी स्त्री भी समझ गई

कि उसे ज़िंदगी-भर इसी तरह रोगी ही बना रहना पड़ेगा।

आखिर एक दिन स्त्री ने मुझसे कह ही दिया, 'जबकि बीमारी अच्छी ही नहीं होने की, और जल्दी मरने की भी कोई आशा नहीं, तो फिर तुम कब तक इस 'अधमरी-अधजीयी' के साथ अपनी ज़िन्दगी बरबाद करते रहोगे? तुम दूसरा ब्याह कर लो।'

उसने यह बात ऐसे सरल स्वभाव से कही कि मानो वह महज़ एक सुयुक्ति और विवेकपूर्ण अच्छी सलाह हो। उसमें कोई बड़ी भारी महत्ता या वीरता या असाधारण कोई बात हो, ऐसा भाव उसमें लेश-मात्र को भी न था।

अब मेरे मुस्कराने की पारी थी; किन्तु मुझमें वैसी मुस्कराने की शक्ति कहां? मैं उपन्यास के प्रधान नायक की तरह गम्भीरता के साथ ऊंचे स्वर में कह उठा, 'जब तक इस देह में प्राण हैं...'

उसने मुझे बीच ही में टोककर कहा, 'बस बस, रहने दो, और आगे न बढ़ो। तुम्हारी बातें सुनकर तो मेरा मरने को ही जी चाहता है।'

मैंने तुरत पराजय स्वीकार न करके कहा, 'इस जीवन में मैं और किसीको भी प्यार नहीं कर सकता।'

सुनकर मेरी स्त्री जोर से हंस पड़ी; और तब मुझे रुक जाना पड़ा।

मालूम नहीं, तब मैंने अपने-आप भी कभी साफ मंज़ूर किया है या नहीं, परन्तु, अब समझ रहा हूं कि फिर से उसके तन्दुरुस्त होने की कोई उम्मीद न होने से, सेवा या तीमारदारी करने में अपने अन्दर मैं थकान महसूस कर रहा था। अलबत्ता इस काम से जी चुराने की बात मेरे मन में कभी नहीं आई, पर साथ ही ज़िन्दगी-भर उस हमेशा बीमार के साथ रहने की कल्पना भी मेरे लिए कुछ कम दर्दनाक नहीं थी। हाय हाय, जवानी की शुरुआत में जब मैं सामने देखता था तो मुझे प्रेम के मायाजाल में, सुख और आराम पाने की तसल्ली में, सौन्दर्य की मरीचिका में अपना सारा का सारा भावी जीवन खिले हुए खुशबूदार फूल की तरह खुश दिखाई देता था, किन्तु उस दिन से शुरू से लेकर आखीर तक अपनी ज़िन्दगी मुझे मात्र एक असीम और आशाहीन तृष्णा की मरुभूमि-सी मालूम होने लगी।

मेरी सेवा में भीतर की उस थकान को शायद उसने देख लिया था। तब मैं नहीं जानता था, पर अब मुझे रत्ती-भर भी सन्देह नहीं

कि उसने मुझे युक्ताक्षरहीन बच्चों की 'पहली पुस्तक' की तरह साफ पढ़ और समझ लिया था। इसीलिए, जब मैं उपन्यास के नायक की तरह अपने को तैयार करके उसके सामने कवित्व बघारने जाता, तो वह ऐसे गम्भीर स्नेह और साथ ही अनिवार्य कौतुक के साथ मुस्करा देती कि मुझसे कुछ जवाब देते न बनता था। खुद मेरे अन्दर की बात, जिसे मैं भी नहीं जान पाता था, अन्तर्यामी की तरह वह सब समझ जाती थी। उन बातों का खयाल आते ही, अब भी कभी-कभी, मारे शरम के मेरी आत्मघात करने की इच्छा होती है।

डाक्टर हारान मेरी बिरादरी के थे। उनके घर अकसर मेरा न्योता हुआ करता था। कुछ दिन आने-जाने के बाद डाक्टर ने अपनी लड़की के साथ मेरी जान-पहचान करा दी। लड़की अविवाहित थी। उमर पन्द्रह के लगभग होगी। डाक्टर का कहना था कि वे अपनी पसन्द का कोई अच्छा लड़का न मिलने से अब तक उसका ब्याह नहीं कर सके हैं। मगर बाहर वालों से यह सुनने में आता है कि लड़की के कुल में कुछ दोष है।

इसके सिवा और कोई दोष नहीं था। जैसा सुरूप था वैसी ही सुशिक्षा। देखने में बहुत सुन्दर, और बातचीत, रहन-सहन, संस्कृति, लगभग सभी बातों में तारीफ के काबिल थी वह। यही वजह थी कि बीच-बीच में किसी-किसी दिन उसके साथ बातचीत और गपशप करते-करते घर लौटने में मुझे रात हो जाती, यहां तक कि कभी-कभी स्त्री को दवा पिलाने का वक्त भी निकल जाया करता। उसे मालूम रहता कि मैं डाक्टर के घर गया हूं, पर देर होने का कारण उसने एक दिन भी मुझसे नहीं पूछा।

अपनी ज़िन्दगी के रेगिस्तान में मैं फिर एक बार मरीचिका देखने लगा। तृष्णा जब छाती तक भर आई थी, आंखों के सामने तब किनारे तक भरा हुआ साफ-सुथरा ठण्डा पानी छलकने और लहराने लगा। और तब, मैं अपने मन को, जी-जान से वापस खींचने पर भी, रोक या फेर न सका।

मरीज़ का कमरा मेरे लिए पहले से दूना निरानन्द और बेमज़ा हो गया। फिर तो अकसर रोज़ ही मरीज़ की सेवा करने, दवा पिलाने और पथ्यादि देने के सभी नियम भंग होने लगे।

डाक्टर हारान अकसर मुझसे कहा करते थे कि 'जिनकी बीमारी

कभी अच्छी नहीं होने की, उन्हें तो मर जाने ही में आराम है। क्योंकि जीने में न तो उन्हें खुद ही कुछ आराम है और न घर वालों को।' मामूली तौर पर यह बात कही जाती तो कोई खास बात नहीं थी। पर, मेरी स्त्री की तरफ लक्ष्य करके उन्हें यह बात न कहनी चाहिए थी। पर, आदमी के मरने-जीने के विषय में डाक्टरों का मन इतना उदासीन और इतना जड़ होता है कि वे मरीज़ के घरवालों के मन की हालत ठीक-ठीक समझ नहीं सकते।

अचानक एक दिन बगलवाले कमरे से मैंने सुना, मेरी स्त्री डाक्टर से कह रही है, 'डाक्टर साहब, इतनी फालतू दवाएं पिला-पिलाकर दवाखाने का कर्ज़ क्यों बढ़वा रहे हैं? मेरी जान ही जब एक बीमारी बन गई है, तो फिर ऐसी कोई दवा क्यों नहीं दे देते कि प्राण ही निकल जाएं और जंजाल दूर हो।'

डाक्टर ने कहा 'छि: ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।'

बात सुनकर सहसा मेरी छाती में सदमा-सा बैठ गया। बड़ी चोट पहुंची। डाक्टर के चले जाने पर मैं उस कमरे में जाकर खाट की पाटी पर बैठ गया और स्त्री के माथे पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगा। उसने कहा, 'इस कमरे में तो बड़ी गरमी है, तुम बाहर चले जाओ। तुम्हारा घूमने जाने का वक्त भी हो गया है। थोड़ी देर घूम-फिरकर आओगे तो रात को भूख भी लग आएगी, कुछ खा-पी भी लोगे।'

घूमने जाने के मानी थे डाक्टर के घर जाना। मैंने ही उसे समझा दिया था कि भूख लगने के लिए थोड़ा-बहुत टहलना ज़रूरी है। अब मैं निश्चय से कह सकता हूं कि वह मेरी इस रोज़ की बहानेबाजी को खूब समझती थी। मैं ही मूर्ख था जो समझता था कि वह भोलीभाली थी।"

इतना कहकर दक्षिणाचरण बाबू फिर बहुत देर तक हथेली पर माथा टेके चुप बैठे रहे। अन्त में बोले, "एक गिलास पानी पिलाओ, प्यास लगी है।"

और पानी पीकर फिर कहने लगे :

"एक दिन डाक्टर की लड़की मनोरमा ने मेरी स्त्री को देख आने की इच्छा प्रकट की। मालूम नहीं क्या वजह थी, उसकी बात मुझे रुची नहीं। मगर नाहीं करने की कोई वजह नहीं थी। आखिर एक दिन

शाम को वह हमारे यहां चली ही आई।

उस दिन, मेरी स्त्री को और दिनों से कुछ ज़्यादा तकलीफ थी। जिस दिन उसे ज़्यादा तकलीफ होती उस दिन वह बहुत ही शान्त रहती, सिर्फ बीच-बीच में उसकी मुट्ठी बंध जाती और चेहरा नीला पड़ जाता। इसीसे उसकी तकलीफ का अन्दाज़ा लगता था। किसी तरह की आहट नहीं थी, मैं खाट की पाटी पर शान्त बैठा था। उस दिन उसमें इतना भी दम न था कि मुझसे घूम आने के लिए आग्रह कर सके। और, हो सकता है कि ज़्यादा तकलीफ के वक्त वह भीतर से चाहती हो कि मैं उसके पास बना रहूं। आंखों को चकाचौंध न लगे इस खयाल से लालटेन दरवाज़े की आड़ में रख दी गई थी। कमरे में अंधेरा और सन्नाटा था। सिर्फ बीच-बीच में भीतर की पीड़ा और तकलीफ कुछ कम होने पर उसका गहरा दीर्घ निःश्वास सुनाई देता था।

ठीक इसी समय, मनोरमा दरवाज़े के पास आकर खड़ी हो गई। बगल से लालटेन का थोड़ा-सा उजाला उसके चेहरे पर पड़ा। उस अंधेरे उजाले में कुछ देर तक कमरे के भीतर का कुछ दिखाई न देने से वह वहीं खड़ी-खड़ी इधर-उधर करने लगी।

मेरी स्त्री चौंक पड़ी; और मेरा हाथ थाम पूछ उठी, 'वो कौन ?' अपनी इस कमज़ोरी की हालत में सहसा अनजान आदमी को देखकर वह डर गई थी। अस्फुट स्वर में उसने दो-तीन बार पूछा, 'वो कौन ? वो कौन ?'

मुझसे तब कैसी ज़बरदस्त बेवकूफी हुई कि मैं चट से कह बैठा, 'मैं नहीं जानता।' बात मुंह से निकली ही थी कि मानो किसीने चाबुक-सा मारा। और दूसरे ही क्षण मैंने कहा, 'अरे, ये तो अपने डाक्टर साहब की लड़की मालूम होती हैं।'

स्त्री ने एक बार मेरे मुंह की ओर गौर से देखा—मुझसे उसके चेहरे की तरफ नहीं देखा गया—और दूसरे ही क्षण उसने बहुत ही धीमे स्वर में अपने घर पर आए हुए अतिथि से कहा, 'आइए, आप भीतर आइए।' और मुझसे कहा, 'लालटेन उठा लो ज़रा।'

मनोरमा भीतर आकर बैठ गई। और उसके साथ मरीज़ की धीरे-धीरे बातचीत होने लगी। इतने में डाक्टर आ पहुंचे।

वे अपने दवाखाने से दो शीशी दवा ले आए थे। उन दोनों शीशियों को निकालकर मेरी स्त्री से बोले, 'इस नीली शीशी में मालिश

की दवा है, और यह पीने की है। देखिए, कहीं दोनों में गड़बड़ मत कर लीजिएगा। इस दवा में ज़हर है!' मुझे भी उन्होंने सावधान कर दिया, और शीशियां बगल की टेबल पर रख दीं। जाते वक्त उन्होंने अपनी लड़की को बुलाया।

मनोरमा ने कहा, 'बापूजी, मैं यहीं क्यों न रह जाऊं? यहां कोई है तो नहीं, इनकी सेवा-टहल कौन करेगा?'

मेरी स्त्री अत्यन्त चंचल हो उठी, बोली, 'नहीं, नहीं, आप तकलीफ न कीजिए। पुरानी नौकरानी है, वह मुझे मां की तरह देखती-भालती है।'

डाक्टर ने हंसते हुए कहा, 'बेटी, ये सती लक्ष्मी हैं, लक्ष्मी! हमेशा से दूसरों की सेवा करती आई हैं, अब दूसरों की सेवा इनसे ली नहीं जाती।'

लड़की को लेकर डाक्टर जाना ही चाहते थे कि इतने में मेरी स्त्री ने कहा, 'डाक्टर साहब, बन्द कमरे में ये बहुत देर से बैठे हुए हैं, इन्हें आप ज़रा बाहर घुमाने ले जाइए न!'

डाक्टर ने मुझसे कहा, 'आइए न, चलिए, आपको ज़रा नदी किनारे घुमा लाऊं।'

मैं, पहले ज़रा एतराज़ करने के बाद, चलने को तैयार हो गया। कमरे से निकलते वक्त डाक्टर ने उन दोनों शीशियों के बारे में मेरी स्त्री को फिर से एक बार सावधान कर दिया।

उस दिन मैंने डाक्टर के घर ही खाया-पीया। लौटने में मुझे देर हो गई। घर आकर देखा कि मेरी स्त्री बुरी तरह तड़प रही है। अनुताप से लज्जित और जर्जरित होकर मैंने पूछा, 'तुम्हारी तकलीफ क्या आज बहुत ज़्यादा बढ़ गई क्या?'

वह जवाब न दे सकी, चुपचाप मेरे मुंह की ओर देखने लगी। उसकी ज़बान बन्द हो चुकी थी।

मैं उसी वक्त, रात ही को, डाक्टर के घर जाकर उन्हें बुला लाया।

पहले तो बहुत देर तक डाक्टर के कुछ समझ ही में न आया! अन्त में उन्होंने पूछा, 'वह दर्द क्या बहुत ज़्यादा बढ़ गया है? एक बार दवा की मालिश कर दी जाए तो ठीक रहे।' कहकर उन्होंने टेबल पर से नीली शीशी उठाई—देखा तो शीशी खाली!

मेरी स्त्री से उन्होंने पूछा, 'आपने क्या गलती से यह दवा पी ली है ?'

उसने सिर्फ सिर हिलाकर जता दिया, 'हां ।'

डाक्टर उसी वक्त गाड़ी पर सवार होकर अपने घर पम्प लाने दौड़े।

मुझे कुछ बेहोशी-सी आने लगी, और दूसरे ही क्षण मैं स्त्री के बिस्तर पर लुढ़क पड़ा।

तब, मां अपने बीमार बच्चे को जिस तरह सान्त्वना देती है ठीक उसी तरह, उसने मेरा सिर अपनी छाती से लगाकर दोनों हाथों के स्नेह-स्पर्श से अपने मन की बात समझाने की कोशिश की। मुझे ऐसा लगा मानो वह सिर्फ अपने करुण स्पर्शमात्र से मुझसे बार-बार यही कह रही हो कि 'शोक मत करो, अच्छा ही हुआ, तुम सुखी होओगे, यही सोचकर मैं सुख से मर रही हूं।'

डाक्टर जब तक पम्प लेकर वापस आए, तब तक तो वहां मरीज़ की ज़िन्दगी के साथ-साथ उसकी सारी बीमारी और तकलीफें हमेशा के लिए दूर हो चुकी थीं।"

दक्षिणाचरण ने फिर एक बार पानी पीकर कहा, "उफ्, बड़ी गरमी है।" इतना कहकर वे जल्दी से बाहर के बराण्डे में जाकर थोड़ा टहल आए, और फिर भीतर आकर बैठ गए। साफ समझ पड़ता था कि वे खुद कुछ भी कहना नहीं चाहते, मानो मैं ही उनके सर पर जादू की लकड़ी फेरकर उनसे सब बातें कहलवाए ले रहा हूं। उन्होंने फिर कहना शुरू किया :

"मनोरमा के साथ ब्याह करके मैं वहां से अपने घर कलकत्ता चला गया।

मनोरमा ने अपने पिता की सम्मति से मेरे साथ ब्याह किया था। मगर मैं जब उससे प्यार करता, प्रेम की बातें करके उसके हृदय पर अधिकार करने की कोशिश करता, तो वह न तो मुस्कराती, न हंसती; गम्भीर बनी रहती। भला मैं कैसे समझता कि उसके मन में कहां क्या खटका छिपा हुआ है!

इन्हीं दिनों मेरी शराब पीने की आदत बहुत बढ़ गई।

एक दिन शरत्ऋतु के प्रारम्भ में शाम को मनोरमा के साथ मैं बराहनगर वाले बगीचे में घूम रहा था। क्रमशः धीरे-धीरे अंधेरा बढ़ता जाता था। चिड़ियों के घोंसलों में पंख फटकारने की आहट तक बन्द हो चुकी थी। सिर्फ अगल-बगल घनी छायादार झाऊ के पेड़ हवा से कांप रहे थे।

ज़रा कुछ थकान मालूम होते ही मनोरमा उस मौलसिरी के पेड़ के नीचे संगमरमर की वेदी पर आकर अपनी बांह पर सिर रखके लेट गई। मैं भी उसके पास बैठ गया।

वहां अंधेरा और भी गाढ़ा था। वहां से जितना आकाश दीख पड़ता था उसमें तारे ही तारे छा रहे थे, और झींगुरों की झनकार ऐसी लग रही थी कि मानो वह अनन्ताकाश की छाती पर से खिसकी हुई निस्तब्धता की साड़ी के नीचे शब्द की एक बारीक पाड़ बुन रही हो।

उस दिन शाम को मैंने शराब पी थी, इससे मन ज़रा कुछ तरल अवस्था में था। आंखों को अंधेरा जब कुछ बरदाश्त हो गया तब पेड़ की छाया के नीचे पांडुवर्ण से अंकित शिथिल अंचल उस थकी हुई रमणी की धुंधली-सी मूर्ति ने मेरे हृदय में एक तरह के अनिवार्य आवेग का संचार कर दिया। मालूम हुआ मानो वह एक छाया है, अपनी बाहों से मैं उसे किसी भी तरह बांध नहीं सकता।

इतने में अन्धकारमय झाऊ के पेड़ की चोटी पर मानो आग-सी जल उठी। उसके बाद, कृष्णपक्ष का जीर्ण प्रान्त पीतवर्ण चन्द्रमा धीरे-धीरे ठीक पेड़ के ऊपर के आकाश में चढ़ आया; और सफ़ेद पत्थर पर सफेद साड़ी पहने हुए उस सोई हुई तरुणी के चांद-से शांत मुखड़े पर चांदनी आ पड़ी। फिर मुझसे रहा नहीं गया। पास जाकर अपने दोनों हाथों से उसके हाथ पकड़कर बोला, 'मनोरमा, तुम मेरा विश्वास नहीं करती, पर मैं तुमसे प्रेम करता हूं, मैं तुम्हें हृदय से चाहता हूं, मैं तुम्हें कभी भूल नहीं सकता।'

मुंह से शब्द निकलते ही चौंक उठा, याद आया कि ठीक यही बात मैंने और भी एक दिन और किसीसे भी कही है। उसी क्षण मौलसिरी और झाऊ की चोटियों के ऊपर से, कृष्णपक्ष के पीतवर्ण भग्नचन्द्र के नीचे से, गंगा के इस पार से लेकर सुदूर उस पार तक सर्वत्र 'हाः हाः, हाः हाः, हाः हाः' करती हुई एक हंसी बहुत ही तेज़ी

से उड़ी चली गई। वह मर्मभेदी हंसी थी या अभ्रभेदी हाहाकार, मैं नहीं कह सकता। मैं उसी क्षण बेहोश होकर उस वेदी से नीचे लुढ़क पड़ा। होश आने पर देखा कि अपने कमरे में पड़ा हूं।

मनोरमा ने पूछा, 'अचानक तुम्हें ऐसा क्यों हो गया?'

मैं कांप उठा, बोला, 'सुना नहीं तुमने? सारे आकाश में 'हाः हाः हाः हाः' करती हुई एक हंसी उड़ी चली गई थी!'

उसने हंसते हुए कहा, 'वो हंसी थोड़े ही थी! कतार बांधे सारसों का एक झुण्ड उड़ा जा रहा था। मैंने तो उन्हींके पंखों की आहट सुनी थी। तुम ज़रा-ज़रा-सी बात पर ऐसे डर क्यों जाते हो!'

दिन में मेरी साफ समझ में आ गया कि ज़रूर वह पक्षियों के ही उड़ने की आवाज़ होगी; क्योंकि इस समय उत्तर देश से हंसों की पंक्ति नदी की रेती पर चरने आया करती है। मगर, जैसे ही शाम होती, उस विश्वास को मैं खो बैठता। तब ऐसा मालूम होता जैसे चारों तरफ सम्पूर्ण अंधकार में वही हंसी जमी बैठी है, और ज़रा-सा कुछ मौका पाते ही एकाएक अन्धकार को चीरती हुई आकाश-भर में गूंज उठेगी। अंत में ऐसा हो गया कि शाम के बाद फिर मनोरमा से बात करने की मेरी हिम्मत ही न पड़ती।

एक दिन, अपने उस बगीचे वाले मकान को छोड़कर मनोरमा के साथ मैं मोटर-बोट पर बैठकर हवाखोरी के लिए निकल पड़ा। अगहन का महीना था, नदी की खुली हवा में मेरा सब डर-भय दूर हो गया। कई दिन खूब आनन्द से बीते। चारों ओर के प्राकृतिक सौन्दर्य से आकृष्ट होकर मनोरमा भी मानो अपने हृदय के बन्द द्वार, बहुत दिनों बाद, धीरे-धीरे मेरे सामने खोलने लगी।

बोट गंगा की धारा छोड़कर उसकी एक शाखा में होकर पद्मा-नदी में जा पहुंचा। भयंकरी पद्मा उस समय हेमन्त ऋतु की बांबी में पड़ी भुजंगिनी के समान दुबली और निर्जीव होकर सुदीर्घ शीत-निद्रा में सो रही थी। उत्तरी किनारे पर जनशून्य तृणशून्य दिगन्त तक विस्तृत रेती धांय-धांय जल रही थी, और दक्षिण की ऊंची पाड़ पर छोटे-छोटे गांवों के आम के बाग मानो उस राक्षसी नदी के लालायित मुंह के बिलकुल पास ही हाथ जोड़े खड़े-खड़े कांप रहे थे। पद्मा मानो नींद की खुमारी में एक-एक बार करवट लेती और विदीर्ण तट-भूमि छप-छप छपाक करती हुई धसक-धसक पड़ती।

यहीं घूमने-फिरने की मौज है, यह सोचकर वहां मैंने लंगर डलवा दिया।

एक दिन हम दोनों टहलते-टहलते बहुत दूर चले गए। देखते-देखते डूबते हुए सूरज की सुनहरी आभा दिगन्त में विलीन हो गई। शुक्लपक्ष की साफ़-सुथरी चांदनी खिल उठी। उस अन्तहीन चमकती हुई सफ़ेद रेती पर शुभ्र चांदनी जब अपना सम्पूर्ण रूप और यौवन लिए हुए बेरोक-टोक एकसाथ आकाश के सीमांत तक फैल गई, तो ऐसा मालूम होने लगा जैसे इस जनशून्य चन्द्रलोक के असीम स्वप्न-राज्य में केवल हम ही दोनों विचरण कर रहे हों। लाल रंग का दुशाला मनोरमा के माथे से उतरकर उसके चेहरे को घेरे और सारे शरीर को ढके हुए नीचे तक लटक रहा था। निस्तब्धता जब और भी निविड़ हो गई, सन्नाटा जब और भी गहरा हो गया, सीमाहीन, दिशा-हीन शुभ्रता और शून्यता के सिवा जब और कुछ भी बाकी न रहा, तब मनोरमा ने दुशाले से धीरे से अपना हाथ निकाला और मेरा हाथ पकड़ के मसक दिया। बहुत ही पास आकर मानो वह अपने सम्पूर्ण तन-मन और जीवन-यौवन का सारा भार मुझे सौंपकर एकान्तरूप से मुझ ही पर निर्भर होकर खड़ी हो गई। और मैं पुलकित हृदय से सोचने लगा, 'बन्द घर में कहीं मनमाना प्रेम किया जा सकता है! ऐसे खुले हुए मुक्त मैदान और अनन्त आकाश के बिना एक-साथ दो प्रेमी हृदय भला और कहां समा सकते हैं।' मालूम होने लगा, हमारे घर नहीं, द्वार नहीं, पीछे कहीं भी लौटना नहीं, इसी तरह हाथ में हाथ दिए कहीं न पहुंचने के मार्ग से उद्देश्यहीन भ्रमण करते हुए चन्द्रालोकित शून्यता के ऊपर से बिना बाधा के बराबर चलते ही चलना है।

इस तरह चलते-चलते एक जगह जाकर देखा कि उस रेती के टापू पर पास ही एक जलाशय-सा बना हुआ है। पद्मा वहां से कुछ हटकर बहने लगी थी, इसीलिए वहां पानी रुक गया था।

उस मरु-बालुका से वेष्टित निस्तरंग निश्चल सोते हुए तालाब के पानी पर चांदनी की लम्बी रेखा मानो बेहोश पड़ी गहरी नींद सो रही थी। वहां पहुंचकर हम दोनों खड़े हो गए। मनोरमा न जाने क्या सोचकर मेरे मुंह की ओर देखने लगी। इतने में एकाएक उसके माथे पर का दुशाला खिसक पड़ा और मैंने उसका चांदनी से खिला हुआ

प्यारा मुखड़ा उठाकर चूम लिया।

ठीक उसी समय, उस जन-मानवशून्य निःसंग मरुभूमि में न जाने कौन कहां से तीन बार बोल उठा, 'वो कौन, वो कौन, वो कौन!'

मैं एकसाथ चौंक पड़ा। मनोरमा भी कांप उठी। पर, दूसरे ही क्षण हम दोनों समझ गए कि वह शब्द मानुषिक नहीं, अमानुषिक है; नदी की रेती पर विहार करनेवाले जलचर पक्षियों की पुकार है। सहसा इतनी रात में अपने एकान्त निर्जन निवास के पास आदमी देखकर वे चौंक पड़े हैं।

उस डर से चौंककर हम दोनों ही जल्दी-जल्दी बोट की तरफ लौट पड़े। काफी रात हो चुकी थी। बोट में आते ही मैं बिस्तर पर जा पड़ा और सो गया। शायद थक जाने से मनोरमा भी पड़ते ही सो गई।

उसके बाद, अंधेरे में मालूम नहीं कौन, मेरी मसहरी के पास आ खड़ी हुई, और सोई हुई मनोरमा की ओर अपनी एकमात्र लम्बी पतली रक्त-मांसहीन हड्डी की उंगली का इशारा करती हुई मानो मेरे कान के पास आकर चुपके-चुपके अस्फुट कण्ठ से बार-बार पूछने लगी, 'वो कौन? वो कौन? वो कौन?'

झटपट उठकर मैंने दियासलाई जलाकर बत्ती बाली। बत्ती जलते ही वह गायब हो गई। ऐसा मालूम हुआ जैसे वह मेरी मसहरी को कंपाती और बोट को हिलाती हुई पसीने से तरबतर मेरे शरीर के खून को ठंडा करके, 'हाः हाः' 'हाः, हाः' हंसती हुई अंधेरी रात के भीतर से उड़ती हुई तेजी से भाग निकली। पहले पद्मा पार हुई, फिर पद्मा की रेती पार हुई, उसके बाद सारे सोए हुए देश, ग्राम, नगर, मैदान, पहाड़ सब पार कर गई और अनन्तकाल तक देश-देशान्तर, लोक-लोकान्तर पार होकर क्रमशः क्षीण, क्षीणतर, क्षीणतम होती हुई असीम सुदूर की ओर उड़ती ही चली गई! क्रमशः मानो वह जीवन-मृत्यु के देश को पार कर गई और उसकी आवाज़ क्रमशः सुई की नोंक की तरह बारीक होती गई। इतनी महीन आवाज़ मैंने पहले कभी नहीं सुनी, न उसकी कभी कल्पना ही की। मेरे माथे के भीतर मानो अनन्त आकाश भरा हुआ हो, और वह आवाज़, असीम-अनन्त दूर निकल जाने पर भी, उससे मेरे मस्तिष्क की सीमा छोड़ते नहीं बनता हो। अन्त में जब बिलकुल ही असह्य हो उठा और किसी भी तरह नींद नहीं आई, तो सोचा कि बत्ती बिना बुझाए न नींद आएगी, न चैन मिलेगा। और

तब, ज्योंही बत्ती बुझाकर लेटा त्योंही मेरी मसहरी के पास, मेरे कानों के पास, अंधेरे में फिर वही अवरुद्ध स्वर बोल उठा, 'वो कौन, वो कौन, वो कौन!' मानो मेरे फेफड़े के खून के साथ-साथ ठीक ताल पर ताल मिलाकर लगातार ध्वनित होने लगा, 'वो कौन, वो कौन, वो कौन! वो कौन, वो कौन, वो कौन!' उस गहरी रात में, निस्तब्ध निशीथ में, बोट के भीतर मेरी गोलाकार घड़ी भी मानो सजीव हो उठी, और अपने कांटों को मनोरमा की तरफ फैलाकर ताक पर से ताल पर ताल देती हुई कहने लगी, 'वो कौन, वो कौन, वो कौन! वो कौन, वो कौन, वो कौन!'"

कहते-कहते दक्षिणाचरण बाबू का चेहरा पीला पड़ गया और कण्ठ रुंध आया। मैंने उनकी देह छूकर कहा, 'ज़रा पानी पी लीजिए।'

इतने में सहसा मेरा लैम्प दुप-दुप करते-करते बुझ गया। सहसा बाहर की ओर निगाह गई तो देखा कि सबेरा हो गया है। कौए बोल रहे हैं, कोयल सीटी दे रही है। घर के सामनेवाली सड़क भी भैंसागाड़ी के पहियों की घड़घड़ाहट से जाग उठी है। उजाले में देखा तो दक्षिणाचरण के चेहरे का भाव ही बिलकुल बदल गया है, डर या आशंका का कोई चिह्न ही नहीं है उनके चेहरे पर। रात के मायाजाल में काल्पनिक शंका की मत्तता में उन्होंने मेरे सामने जो इतनी बातें कह डालीं, उसके लिए वे अत्यन्त लज्जित और भीतर ही भीतर मुझपर नाराज़-से हो उठे, और शिष्ट सम्भाषण किए बिना ही चट से उठकर चल दिए।

उसी दिन फिर आधी रात को आकर किसीने मेरा दरवाज़ा खट-खटाया, "डाक्टर! डाक्टर!!"

[मूल रचना: माघ, १९५१]

दुराशा

बहुत दिनों की पुरानी बात है। मैं दार्जिलिंग गया था। वहां जाकर देखा कि बादल और वर्षा से घटाटोप अंधेरा छा रहा है। घर से बाहर निकलने की तबीयत नहीं होती, और घर में पड़े-पड़े तो और भी जी ऊबता है।

होटल में सवेरे का खाना खाकर, पैरों में मोटे बूट और सिर से लेकर पैर तक 'बरसाती' डाटकर हवाखोरी के लिए निकल पड़ा। रह-रहकर रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही थी। चारों ओर काले बादलों के घटाटोप से ऐसा मालूम होने लगा कि जैसे विधाता हिमालय पहाड़-सहित सम्पूर्ण विश्वचित्र को रबर से घिसकर मिटा देने की कोशिश कर रहे हों।

सुनसान कलकत्ता रोड पर अकेला टहलता हुआ मैं सोच रहा था कि इस अवलम्बनहीन मेघराज्य में अब अच्छा नहीं लग रहा, अब तो अपनी उस रूप-रस-गन्ध-वर्णमयी चित्र-विचित्र धरती माता को फिर से अपनी पांचों इन्द्रियों द्वारा पांच तरह से जकड़कर पकड़ लिया जाए तो अच्छा।

इतने में, पास ही कहीं से, किसी नारी के कण्ठ की सकरुण क्रन्दन की ध्वनि सुनाई दी। रोग-शोक से व्याकुल इस संसार में रोने की आवाज़ कोई विचित्र बात नहीं है। और कहीं, या और कोई समय होता, तो मुंह फेरकर देखता भी या नहीं, इसमें सन्देह है। किन्तु इस असीम मेघराज्य में वह रोना सम्पूर्ण विलुप्त संसार के एकमात्र क्रन्दन के समान मेरे कानों में आकर प्रवेश करने लगा। और मेरे लिए उसे तुच्छ समझना सहज न रहा।

उस क्रन्दन-ध्वनि की खोज में मैं आगे बढ़ने लगा। थोड़ी दूर चलकर देखूं, तो गेरुए कपड़े पहने एक स्त्री, जिसके माथे पर सुनहले रूखे बालों की जटा पहाड़ की चोटी का आकार धारण किए अपने-आपमें आबद्ध है, सड़क के किनारे एक छोटी-सी शिला पर बैठी हुई धीमे स्वर में रो रही है। यह ताज़े शोक का विलाप नहीं है, बल्कि बहुत दिनों से संचित नीरव श्रान्ति और गहरा विषाद है, जो मेघ के अंधकार और पहाड़ की निर्जनता के भार से चूर-चूर होकर घुमड़ उठा है।

मैं मन ही मन सोचने लगा कि यह अच्छा रहा, ठीक मानो घर-

गढ़न्त कहानी का प्रारम्भ हुआ। मैंने ऐसे कभी आशा ही नहीं की थी कि पहाड़ की चोटी पर बैठी कोई संन्यासिनी रो रही है और मैं उसे अपनी आंखों से देख-सुन रहा हूं।

उस स्त्री की जाति क्या है, कुछ अन्दाज़ न लगा सका। मैंने अत्यन्त मुलायम भाषा में उससे पूछा, "कौन हो तुम ? क्या हुआ है तुम्हें, रो क्यों रही हो ?"

पहले तो उसने कुछ जवाब ही नहीं दिया, बादलों के भीतर से सजल दीप्त नेत्रों से उसने एक बार मुझे अच्छी तरह देख-भर लिया।

मैंने फिर कहा, "मुझसे डरो मत, मैं शरीफ आदमी हूं।"

सुनकर वह हंसने लगी ; और अत्यन्त श्रान्त किन्तु मधुर कण्ठ से कहने लगी, "बहुत दिनों से डर-भय को मैं पास ही नहीं फटकने देती, हया-शरम को भी धता बता चुकी हूं। बाबूजी, एक ज़माना था जब मैं खास ज़नानखाने में रहती थी, जहां अपना सगा भाई भी बहन के हुक्म के बगैर भीतर नहीं जा सकता था। मगर आज, आज दुनिया में मेरा कोई परदा ही नहीं रहा।"

पहले तो मुझे ज़रा गुस्सा-सा आया ; क्योंकि मेरा ठाट-बाट सब साहबाने ढंग का होने पर भी वह अभागिन बिना दुविधा के मुझे 'बाबूजी' कह बैठी। सोचा, यहीं पर इस किस्से को खतम करके सिगरेट का धुआं उड़ाता हुआ साहबी फैशन की रेलगाड़ी की तरह ज़ोर से मिज़ाज के साथ आगे चल दूं। मगर भीतर जो एक दिलचस्पी थी, भीतरी रहस्य जानने का जो एक कुतूहल था, उसकी जय हुई। मैंने अपने अन्दर कुछ ऊंचा भाव लाते हुए गरदन टेढ़ी करके पूछा, "मैं तुम्हारी कुछ मदद कर सकता हूं ? बताओ, तुम क्या चाहती हो ?"

उसने स्थिर दृष्टि से एक बार मेरे चेहरे की ओर देखा, और फिर थोड़ी देर बाद संक्षेप में उत्तर दिया, "मैं बदायूं के नवाब गुलाम कादिरखां की बेटी हूं।"

बदायूं किस जगह है, नवाब गुलाम कादिरखां कौन-से नवाब हैं, और उनकी बेटी किस दुःख से संन्यासिनी के भेस में दार्जिलिंग में कलकत्ता रोड के किनारे बैठकर रो सकती है—इस बारे में मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं, और न मैं ऐसी बातों पर विश्वास ही करता हूं ; किन्तु फिर भी, मैंने सोचा कि जाने दो, रंग में भंग नहीं डालूंगा, कहानी का सिलसिला अच्छा जमता जा रहा है।

हां, तो नवाबज़ादी की तारीफ का पहला टुकड़ा मेरे कान में पड़ते ही मैंने उसी वक्त एक लम्बा सलाम ठोककर कहा, "नवाबज़ादी साहबा, बेअदबी माफ हो, आपको मैं पहचान नहीं सका था।"

न पहचानने के बहुत-से कारण थे। पहला और मुख्य कारण तो यह था कि मैंने उनको पहले कभी देखा ही नहीं; दूसरे, ऐसा कुहरा छाया हुआ था कि अपने हाथ-पैरों को पहचानना भी मुश्किल था।

और नवाबज़ादी ने भी कुछ खयाल नहीं किया; बल्कि खुश-मिज़ाजी के साथ दाहिने हाथ से सामने के एक पत्थर की ओर इशारा करते हुए उन्होंने मुझे हुक्म दिया, "बैठ जाइए।"

देखा कि नवाबज़ादी इस संन्यासिनी के रूप में भी 'शाही हुक्म' देने की ताकत रखती है। कुहरे से भीगे और सिदार से ढके हुए उस कठोर चट्टान पर बैठने की इजाज़त पाकर मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे मुझे कोई ऐसी इज़्ज़त मिल गई हो जिसकी पहले कभी उम्मीद ही नहीं की थी। 'बरसाती' लादे निकलते समय ऐसे ज़बरदस्त सौभाग्य की बात मेरे लिए स्वप्न में भी अगोचर थी कि आज बदायूं के नवाब गुलाम कादिरखां की बेटी जेबुन्निसा या मेहरुन्निसा या नूरउलमुल्क साहबा खुद मुझे दार्जिलिंग में कलकत्ता रोड के किनारे अपने बिलकुल पास ही समान आसन पर बैठने का हक बख्श देंगी।

हालांकि हिमालय की छाती जैसी सुनसान जगह में पहाड़ी चट्टान पर बैठकर दो पथिक नर और नारी की 'आप बीती कहानी' अचानक और हाल ही तैयार हुई कुनकुनी काव्य-कथा के समान सुनाई देगी, पाठकों के हृदय में दूर से आती हुई गिरि-कन्दरा के झरने की झरझर प्रतिध्वनि और कालिदास-रचित 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' की विचित्र संगीत-ध्वनि जाग्रत् होने लगेगी, फिर भी इतना तो सबको मानना ही पड़ेगा कि बूट और बरसाती पहनकर कलकत्ता रोड के किनारे वर्षा से भीगी और काई से गन्दी किसी चट्टान पर संन्यासिनी भेस में किसी अनजान शाहज़ादी के साथ आमने-सामने बैठकर इस तरह की बातें सुनते हुए भी अपनी शान और शौकत को ज्यों की त्यों बनाए रखना मुझ जैसे नये साहब के लिए आसान काम न था। किन्तु, उस दिन गहरे कुहरे से चारों ओर अंधेरा छा रहा था, संसार के सामने संकोच करने की सी कोई भी बात कहीं भी बाकी नहीं थी। उस अनन्त मेघ-राज्य में सिर्फ हम ही दोनों, बदायूं के नवाब गुलाम

कादिरखां की बेटी और मैं, एक नवविकसित हिन्दुस्तानी साहब और एक नवाबज़ादी, प्रलय-अवशेष की तरह बाकी बचे थे। इस बेमेल सम्मिलन का ज़बरदस्त मज़ाक सिर्फ हम ही दोनों के भाग्य के गोचर था, और किसीके दृष्टिगोचर नहीं था।

मैंने कहा, "नवाबज़ादी साहबा, आपका ऐसा हाल किसने किया?"

बदायूं की नवाबज़ादी ने तकदीर ठोककर कहा, "कौन यह सब करता है, सो मैं क्या जानूं! इतने बड़े पत्थर के बने ठोस हिमालय पहाड़ को मामूली कुहरे से किसने छिपा रखा है?"

मैंने किसी तरह की दार्शनिक बहस न छेड़कर उनकी बात मान ली। और कहा, "ठीक है, भाग्य की बात कौन कह सकता है? हम लोग तो कीड़े-मकोड़े हैं।"

बहस मैं छेड़ता, नवाबज़ादी को मैं इतनी आसानी से छुटकारा न देता, किन्तु अपने मन के भाव को मैं भाषा में बांध न सका। उर्दू बोली का मुझे जो कुछ भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था, वह कलकत्ता रोड के किनारे बैठकर बदायूं की या अन्य कहीं की नवाबज़ादी के साथ अदृष्ट-वाद और स्वाधीन-इच्छावाद के विषय में अच्छी तरह बहस करने के लिए काफी न था।

नवाबज़ादी ने कहा, "मेरी ज़िन्दगी की विचित्र कहानी आज ही खतम हुई है। इजाज़त हो तो सुनाऊं।"

मैंने उतावली के साथ कहा, "आप भी क्या फरमा रही हैं! आपके लिए और इजाज़त! हां, अगर आप इनायत फरमाएं और मैं सुन सकूं, तो उसे मैं अपनी खुशकिस्मती ही समझूंगा।"

कोई यह न समझ ले कि मैंने हूबहू यही शब्द कहे थे। हां, कहने की इच्छा ज़रूर थी, पर सामर्थ्य नहीं। नवाबज़ादी जब बोल रही थीं तो मुझे ऐसा मालूम होता था जैसे ओस से धुले हुए चिकने सांवले रंग के खेत की सुनहली बालों के ऊपर से सवेरे की धीमी-धीमी मीठी हवा हिलोरें ले रही हो। बात-बात में ऐसी नम्रता, ऐसी नज़ाकत, ऐसा सौन्दर्य और वाक्यों का ऐसा लहरोंदार प्रवाह था कि कहते नहीं बनता। और मैं बहुत ही संक्षेप में जंगली की तरह सीधा जवाब दे रहा था। बातचीत में ऐसी सरल शिष्टता का ज्ञान मुझे कभी किसी ज़माने में था ही नहीं; नवाबज़ादी के साथ बात करते समय आज ही और यहीं पहले-पहल मैं अपनी कमी की दीनता पद-पद पर अनुभव करने लगा।

नवाबज़ादी कहने लगीं, "मेरे पिता के वंश में दिल्ली के शाही खानदान का खून मौजूद था, और उसकी रक्षा करने में कहीं भी मेरी सगाई पक्की न हो सकी। मेरे लायक कोई शाहज़ादा ही ढूंढ़े नहीं मिला। मेरे साथ शादी करने के इरादे से लखनऊ के नवाब ने अपनी तरफ से पैगाम भेजा भी, तो पिता टालमटोल करने लगे। और इतने में, दांत से कारतूस काटने के विषय को लेकर सरकारी फौज में सरकार के खिलाफ एक तूफान-सा उठ खड़ा हुआ; और तोपों के धुएं से हिन्दुस्तान-भर में अंधेरा छा गया।"

किसी नारी के मुंह से, खासकर नवाब खानदान की किसी नवाबज़ादी की ज़बान से मैंने कभी उर्दू बोली नहीं सुनी; आज सुनकर साफ समझ में आ गया कि वह बोली उन अमीरों की बोली है जिन्हें ऐश-आराम के सिवा कुछ करना ही नहीं पड़ता था, और यह जिस ज़माने की बोली है वह ज़माना अब नहीं रहा। भला मैं उनकी क्या होड़ कर सकता हूं! आज तो रेलवे और टेलीग्राफ से, काम-काज की भीड़ से और बड़े-बड़े खानदानों के बिगड़ जाने से सब कुछ मानो छोटा-ओछा और अलंकारहीन हो गया है। नवाबज़ादी की सिर्फ भाषा सुनकर अंगरेज़ों के बसाए हुए उस नये पहाड़ी शहर दार्जिलिंग के घने कुहरे के जाल में भी मानो मेरी मानसिक आंखों के सामने मुगल बादशाहों की मानसपुरी माया-बल से जाग उठी; सफेद संगमरमर के बने हुए आसमान चूमनेवाले बड़े-बड़े महल, सड़कों पर लम्बी-लम्बी पूंछवाले घोड़ों की पीठ पर कलाबत्तू के कामदार मखमल के साज़, हाथियों की पीठ पर सुनहली झालरदार खूबसूरत हौदे, शहरी लोगों के सिर पर रंग-बिरंगी बेशकीमती पगड़ियां, जामेवार और रेशम और तनजेब के बने जामे-पायजामे, कमरबन्द से लटकती हुई बांकी तलवारें, ज़रीदार जूतों के आगे की टेढ़ी-तिरछी नोंकें, फुरसत का लम्बा समय, ढीली और नीची पोशाकें, बेहद शिष्टाचार, हद से ज़्यादा अदब-कायदे!

नवाबज़ादी कहने लगीं, "हां, तो हम लोगों का किला था जमुना के ऐन किनारे पर। हमारी फौज के सिपहसालार थे एक हिन्दू ब्राह्मण। उनका नाम था केशरलाल!"

नवाबज़ादी ने आखिर के 'केशरलाल' शब्द पर नारी-कण्ठ का अपना सारा संगीत मानो एकसाथ एक क्षण में उंडेल दिया। मैं हाथ की छड़ी को ज़मीन पर रखकर ज़रा हिल-हिलाकर किस्सा सुनने के

लिए चौकन्ना होकर बैठ गया।

नवाबज़ादी कहने लगीं :

"केशरलाल कट्टर हिन्दू थे। मैं रोज़ खूब सवेरे उठकर अपने महल के झरोखे में से देखा करती कि केशरलाल जमुना में छाती-भर पानी में घुसकर हाथ जोड़कर उगते हुए सूरज के लिए चारों तरफ घूम-घूम-कर जल की अंजलि दिया करते। उसके बाद, भीगे कपड़े पहने घाट पर बैठकर एकाग्र चित्त से जप करते, और, साफ और मीठे कण्ठ से भैरो राग में भजन गाते हुए घर लौटते।

मैं कहने को तो मुसलमान लड़की थी, पर कभी मैंने अपने मज़हब की बात नहीं सुनी, और न मज़हबी इबादत का कोई कायदा ही मुझे मालूम था। उन दिनों भोग-विलास ने, ऐश और आराम ने, शराब और साकी ने, मय और मयखाने ने हमारे मरदों को ऐसा गर्क कर रखा था कि दिखाऊ मज़हबी शोर और ऊधम के सिवा असल मज़हब का उनमें कुछ भी बाकी न था; और इसीलिए जनानखाने के रंगमहलों में भी कहीं मज़हब ज़िन्दा न था।

विधाता ने मेरे मन में शायद स्वभाविक धर्म-पिपासा दी थी या और कोई गूढ़ कारण होगा, मैं कुछ कह नहीं सकती; पर, हर रोज़ उस प्रशान्त प्रभात में हाल ही उगे सूरज के अरुण प्रकाश में निस्तरंग नील जमुना की सफेद सीढ़ियों पर केशरलाल के भजन-पूजन के उस दृश्य से नींद से तुरन्त जगा हुआ मेरा हृदय एक अव्यक्त भक्ति की मधुरता से भर जाता।

हमेशा के संयत शुद्धाचरण से ब्राह्मण केशरलाल का गोरा छरहरा बदन धूम्रहीन दीपशिखा के समान दिखाई देता था। ब्राह्मण का वह पुण्य-माहात्म्य अपने अपूर्व श्रद्धा के भार से मुझ मुसलमान तनया के मूढ़ हृदय को विनम्र कर देता था।"

कहते-कहते क्षण-भर के लिए वे रुक गईं। मुझे ऐसा लगा मानो उनके चेहरे पर केशरलाल के उज्ज्वल ब्राह्मणत्व का दीप्त प्रकाश छा गया हो, और उसे वे एक झटके में अलग करके तुरत अपने किस्से का सिलसिला जारी कर देना चाहती हों। केशरलाल के प्रसंग में विशुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग सुनकर मैं दंग रह गया। सोचने लगा, यह कौन

बोल रही है, नवाबज़ादी या संन्यासिनी !

संन्यासनी कहने लगीं :

"मेरी एक हिन्दू बांदी थी, वह रोज़ झुककर प्रणाम करके केशरलाल की पदधूलि ले आती थी। उस दृश्य को देखकर मुझे आनन्द भी होता था और ईर्ष्या भी। क्रिया-कर्म या पर्व-त्यौहार के दिन वह बांदी कभी-कभी ब्राह्मण-भोजन कराती और सबको दक्षिणा दिया करती थी। मैं खुद ही अपनी तरफ से उसे रुपये-पैसे से मदद दिया करती थी और कहती रहती थी कि 'तू केशरलाल को न्योता नहीं देगी ?' किन्तु वह दांतोंतले जीभ दबाकर कहती, 'केशरलाल महाराज किसीका भी अन्न या दान-दक्षिणा नहीं लेते।'

इस तरह प्रत्यक्ष या परोक्ष में केशरलाल को किसी प्रकार अपनी भक्ति न दिखा सकने के कारण मेरा चित्त मानो क्षुधातुर लालची-सा बना रहता। मेरे पुरुखों में से कोई किसी ब्राह्मण-कन्या को जबरन ब्याह लाए थे। मैं महलों के एक कोने में बैठी हुई अपनी शिराओं में उन्हींके पुनीत रक्त-प्रवाह का अनुभव करती और उसी रक्त-सूत्र से केशरलाल के साथ एकता के सम्बन्ध की कल्पना करके कुछ-कुछ तृप्त हो लेती।

अपनी उस हिन्दू दासी से मैं हिन्दूधर्म के समस्त आचार-व्यवहार और देवी-देवताओं की आश्चर्यजनक कथा-कहानियां, 'रामायण' और 'महाभारत' का सारे का सारा अपूर्व इतिहास शंका-समाधानों के साथ अच्छी तरह सुनती। सुनते-सुनते अपने उस अन्तःपुर के कोने में भी हिन्दू संसार का एक दृश्य मेरे मन के सामने नाचने लगता। मूर्ति और प्रतिमूर्ति, शंख और घण्टों की ध्वनि, सोने के कलसों से सुशोभित देव-मन्दिर, धूप का सुगन्धित धुआं, अगुरु-चन्दन-मिश्रित पुष्पों की सुगन्ध, योगी-संन्यासियों की अलौकिक शक्ति, ब्राह्मणों का लोकोत्तर माहात्म्य मनुष्य के छद्मवेश में देवताओं की विचित्र लीला, ये सब मिलकर मेरे सामने एक अतिप्राचीन और अतिविस्तीर्ण अत्यन्त दूर के अस्वाभाविक मायालोक की सृष्टि कर देते; और मेरा चित्त मानो घोंसला खोए हुए पक्षी की तरह संध्या-रूपी किसी बड़े भारी पुराने महल की छोटी-मोटी कोठरियों में उड़ा-उड़ा फिरता। हिन्दू-संसार मेरे उस किशोरी-हृदय के लिए एक बहुत ही रोचक 'परियों की कहानी' का भण्डार-सा बन गया था।

इतने में, फिरंगी-सरकार के साथ फौज की लड़ाई छिड़ गई। हमारे छोटे बदायूं के किले में भी विद्रोह की चिनगारियां दिखाई देने लगीं। केशरलाल ने कहा, 'अब तो इन गो-भक्षक गोरों को आर्यावर्त से दूर करके भारत में राजपद के लिए फिर से एक बार हिन्दू-मुसलमानों को पासा फेंकना पड़ेगा।'

मेरे पिता बहुत ही होशियार और चतुर आदमी थे। उन्होंने अंग्रेज़ों को खास रिश्तेदार के सम्बोधन से सम्बोधित करके कहा, 'ये...सब कुछ कर सकते हैं। हिन्दुस्तान के लोग इनसे उलझकर जीत नहीं सकते। मैं पेट की आस में गोद के इस छोटे-से किले को गंवा नहीं सकता; मैं कम्पनी सरकार से नहीं लड़ूंगा।'

उस समय, जब कि हिन्दुस्तान के समस्त हिन्दू-मुसलमानों का खून खौल रहा था, तब मेरे पिता की इस बनियों जैसी चतुराई पर हम सबका मन उन्हें धिक्कारने लगा। और तो और, मेरी बेगम माताएं तक चंचल हो उठीं।

इतने में, केशरलाल ने हथियारों से लैस अपनी फौज के साथ आकर मेरे पिता से कहा, 'नवाब साहब, अगर आप हमारी तरफ शामिल नहीं होते, तो कम से कम तब तक आप हमारे नज़रबन्द हैं जब तक लड़ाई चालू है: और, इस किले की सारी ज़िम्मेदारी अब से मेरे ऊपर है।'

नवाब साहब ने कहा, 'इतना हंगामा करने की क्या ज़रूरत है! मैं तुम्हारी ही तरफ रहूंगा।'

केशरलाल ने कहा, 'खज़ाने से कुछ रुपये देने होंगे।''

पिता ने विशेष कुछ दिया नहीं, कह दिया, 'जब जैसी ज़रूरत होगी, मैं देता रहूंगा।'

चोटी से लेकर पांव की उंगलियों तक के मेरे पहनने के जितने ज़ेवर थे सबके सब मैंने एक कपड़े में बांधकर अपनी उस हिन्दू दासी के हाथ केशरलाल के पास भिजवा दिए। उन्होंने मेरी वह भेंट मंज़ूर कर ली। मारे खुशी के बिना ज़ेवर मेरे सारे अंग-प्रत्यंग पुलकित हो उठे, शरीर रोमांचित हो उठा।

केशरलाल ज़ंग-लगी बन्दूकों की नली और पुरानी तलवारें मांज-घिसकर साफ करने लगे। इतने में अचानक एक दिन शाम को ज़िले के कमिश्नर साहब लाल पोशाकवाली गोरी पलटन के साथ आसमान

में धूल उड़ाते हुए किले में आ धमके।

मेरे पिता, नवाब साहब ने, चुपके से उन्हें इस बगावत का समाचार भेज दिया था।

किन्तु बदायूं की फौज पर केशरलाल का ऐसा ज़बरदस्त प्रभाव था कि वह उनके इशारे पर टूटी बन्दूकों और ज़ंग-लगी तलवारों से लड़कर जान देने को तैयार हो गई।

अपने विश्वासघातक पिता का महल मुझे नरक-सा मालूम होने लगा। क्षोभ-दु:ख से, लज्जा से, घृणा से मेरी छाती फटने लगी, फिर भी आंखों से एक बूंद पानी नहीं निकला। अपने डरपोक भाई की पोशाक पहनकर, भेस बदलकर मैं महल से बाहर निकल पड़ी। वहां किसीको कुछ देखने की फुरसत ही न थी।

उस समय धूल और बारूद का धुआं, सैनिकों की चीख और बन्दूकों की आवाज सब थम चुकी थी। जल, स्थल और आकाश में मृत्यु की एक भयानक शान्ति छा रही थी। जमुना के पानी को रक्त-राग से रंगकर सूरज तब अस्त हो चुका था; और साफ-सुथरे आकाश में शुक्लपक्ष का चांद अपनी शुभ्र चांदनी छिटका रहा था।

लड़ाई का मैदान खूनखराबी और मृत्यु के दृश्य से भयभीत दीख रहा था। और कोई समय होता तो करुणा से मेरा कलेजा फटने लगता, पर, उस दिन मानो मैं सपने में से उठकर घूम-फिर रही थी, ढूंढ़ रही थी कहां हैं केशरलाल! सिर्फ इस एक बात के सिवा और सब कुछ मुझे झूठा मालूम होता था।

ढूंढ़ते-ढूंढ़ते आधी रात को चांद की चांदनी में मैंने देखा कि रणक्षेत्र के पास ही, जमुना किनारे, एक आम के बाग में पेड़ की छाया के नीचे केशरलाल और उनके भक्त सेवक देवकीनन्दन की लाशें पड़ी हैं! मैं समझ गई कि घातक आक्रमण से घायल होने के बाद या तो नौकर मालिक को या मालिक नौकर को रणभूमि से इस निरापद स्थान पर ले आया है; और शान्ति के साथ दोनों ने मृत्यु की गोद में अपने को सौंप दिया है।

पहले तो मैंने अपनी बहुत दिनों की भूखी भक्ति को चरितार्थ करके हृदय की प्यास बुझाई। केशरलाल के पैरों-तले पड़कर घुटनों तक लटकते हुए अपने बालों को खोलकर-बार-बार मैंने उनसे उनके पैरों की धूल पोंछी। अपने माथे पर उनके शीतल चरण-कमल रखे। फिर उन चरणों

का चुम्बन करते ही मेरे बहुत दिनों से रुके आंसुओं में बाढ़-सी आ गई।

इतने में केशरलाल की देह हिली, और फिर सहसा उनके मुंह से करहाने की दर्द-भरी चीख निकली। मैं चौंक पड़ी, और उनके पैर छोड़ दिए। फिर सुना, मुंदी हुई आंखों और सूखे हुए कण्ठ से उन्होंने कहा, 'पानी!'

मैं उसी क्षण दौड़ी गई जमुना-किनारे। और जमुना के पानी में अपना दुपट्टा डुबोकर ले आई। दुपट्टा निचोड़कर केशरलाल के खुले हुए होंठों में पानी देने लगी। और, उनकी बाईं आंख और माथे पर जो गहरी चोट लगी थी उस जगह अपने दुपट्टे का छोर फाड़कर पनपट्टी बांध दी।

इस तरह कई बार जमुना से पानी ला-लाकर उनके मुंह और आंखों पर निचोड़ती रही। धीरे-धीरे उन्हें होश आया। मैंने पूछा, 'और पानी लाऊं?'

केशरलाल ने कहा, 'कौन हो तुम!'

मुझसे रहा न गया, मैंने कहा, 'यह दासी आपकी सेविका है। नवाब गुलाम कादिरखां की लड़की हूं मैं।'

सोचा था कि केशरलाल मरते-मरते अपनी भक्त सेविका का प्रथम और अंतिम परिचय अपने साथ लेते जाएंगे; और इस सुख से अब मुझे कोई भी वंचित नहीं कर सकता।

किन्तु, हाय, मेरा परिचय पाते ही केशरलाल सिंह की तरह गरज उठे, और बोले, 'विश्वासघातक बेईमान की लड़की! यवन! मरते समय अपने हाथ का पानी देकर तूने मेरा धर्म नष्ट कर दिया!'

यह कहकर उन्होंने मेरे गाल पर दाहिने हाथ से बड़े ज़ोर का एक तमाचा मारा। मैं बेहोश-सी हो गई, मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा गया।

तब मैं सोलह वर्ष की कुमारी थी। पहले ही दिन महल से बाहर निकली थी। तब तक बाहर के आकाश के लोभी सूरज ने अपनी गरम किरणों से मेरे सुकुमार कपोलों की सुर्खी और चेहरे की लौन-छवि को चुराया नहीं था। उस दिन बाहर के संसार में पैर रखते ही, इस संसार से, अपने संसार के देवता से, यही मुझे पहला आशीर्वाद और पहला प्रेम मिला!"

इतना कहकर नवाबज़ादी चुप रह गईं।

अब तक मैं बुझी हुई सिगरेट हाथ में लिए मोहमुग्ध होकर चित्र में अंकित मूर्ति की तरह चुपचाप बैठा कहानी सुन रहा था। कैसी भाषा सुन रहा था, कैसा संगीत सुन रहा था, कुछ कह नहीं सकता। मेरे मुंह में ज़बान नहीं थी।

बहुत देर बाद, मुझसे फिर रहा नहीं गया। सहसा मुंह से निकल पड़ा, "जानवर था!"

नवाबज़ादी बोल उठीं, "कौन जानवर था! जानवर क्या प्राण निकलते समय मुंह के सामने आई हुई पानी की बूंदों को छोड़ सकता है!"

मैंने शरमिन्दा होकर कहा, "हां, बात तो ठीक है। देवता था!"

नवाबज़ादी ने फौरन ही कहा, "कैसा देवता! देवता क्या अपने भक्त की एकाग्र चित्त से की हुई सेवा को ठुकरा सकता है?"

मैंने कहा, "हां, आप ठीक फरमा रही हैं।" कहकर चुप हो गया।

नवाबज़ादी कहने लगीं:

"पहले तो मेरे हृदय को बहुत चोट पहुंची। ऐसा मालूम हुआ मानो विश्व-ब्रह्माण्ड सहसा चकनाचूर होकर मेरे सिर पर आ पड़ा हो। फिर थोड़ी देर बाद, होश आने पर, मैंने उस कठिन, कठोर, निष्ठुर, निर्विकार, पवित्र ब्राह्मण के चरणों में दूर से प्रणाम किया। मन ही मन कहा, 'हे ब्राह्मण, तुम हीनों की सेवा, पराया अन्न, धनी का धन, युवती का यौवन, रमणी का प्रेम, कुछ भी नहीं चाहते, कुछ भी नहीं लेते। तुम स्वतन्त्र हो, स्वाधीन हो, तुम बहुत दूर हो, तुम्हारे पास जाकर आत्मोत्सर्ग करने का अधिकार भला मुझे कहां!'

नवाबज़ादी को ज़मीन पर पड़कर साष्टांग प्रणाम करते देख केशरलाल ने क्या समझा होगा, मैं नहीं कह सकती; पर, उनके चेहरे पर आश्चर्य या और किसी प्रकार का भावान्तर नहीं प्रकट हुआ। उन्होंने शान्त दृष्टि से एक बार मेरे मुंह की ओर देखा, और फिर वे धीरे-धीरे उठने की कोशिश करने लगे। मैंने विह्वल होकर आश्रय देने के लिए अपने हाथ पसारे, उन्होंने नीरवता के साथ उसे अस्वीकार कर दिया; और बड़ी कठिनाई से वे धीरे-धीरे जमना के घाट तक पहुंचे। वहां एक नाव बंधी थी। न तो कोई पार करनेवाला था और न कोई

पार उतरनेवाला। उस नाव पर चढ़कर केशरलाल ने लंगर उठा लिया। देखते-देखते नाव मझधार में पड़ गई, और धीरे-धीरे अदृश्य हो गई। मेरी इच्छा होने लगी, अपने संपूर्ण हृदय-भार को लेकर, अपने सम्पूर्ण यौवन और सम्पूर्ण अनादृत भक्ति-भार को लेकर, उस अदृश्य नाव की ओर हाथ जोड़कर, उस निस्तब्ध निशीथ में, चन्द्रमा की चांदनी से पुलकित उस निस्तरंग जमुना में, असमय में डण्ठल से गिरी हुई पुष्प-मंजरी के समान अपने इस व्यर्थ जीवन को विसर्जन कर दूं, संसार से अपने अस्तित्व को ही मिटा दूं।

किन्तु, मिटा न सकी। आकाश के चांद ने, जमुना पार के पेड़ों की घनी काली कतार ने, कालिन्दी के नीले निस्तरंग जल ने, दूर के आम्र-वन के ऊपर चांदनी से जगमगाते हुए हमारे उस किले की चोटी ने, सभीने एकसाथ मिलकर एकतान से एकमात्र मृत्यु का ही गम्भीर गीत गाया। उस निशीथ में ग्रह-चन्द्र-ताराओं से शोभित निस्तब्ध तीन भुवन ने मुझे एकस्वर से मरने के लिए ही कहा। केवल तरंगहीन प्रशान्त जमुना के स्रोत में बहती हुई वही एक अदृश्य जीर्ण नाव, उस चांदनी रात के सौम्य-सुन्दर शान्त अनन्त भुवनमोहन मृत्यु के पसारे हुए आलिंगन-पाश से छुड़ाकर, मुझे जीवन के मार्ग पर खींच ले चली। और मैं उस मोह-स्वप्न में मरी हुई-सी जमुना के किनारे-किनारे, कहीं लम्बी-लम्बी घास तो कहीं सूखी बालू, कहीं ऊबड़खाबड़ जमीन तो कहीं फटे कगारे, कहीं घने जंगल तो कहीं सुनसान बीहड़ को पार करती हुई चलने लगी।"

इतना कहकर नवाबजादी चुप हो गई। मैं भी कुछ नहीं बोला। बहुत देर बाद उन्होंने फिर शुरू किया :

"इसके बाद की घटनावली बड़ी जटिल है। उसे किस तरह अलग-अलग करके साफ-साफ कहूं, मेरी कुछ समझ में नहीं आता। एक गहन वन के भीतर से गुजर रही थी। ठीक किस रास्ते से, कब कहां से निकली थी उसे क्या फिर से ढूंढ़कर बताया जा सकता है! कहां से शुरू करूं, कहां खतम करूं, कितना छोड़ दूं, कितना रखूं, सारी कहानी को कैसे किस ढंग से ऐसा स्पष्ट प्रत्यक्ष बना डालूं कि जिससे जरा भी कहीं, कुछ भी असाध्य, असम्भव या अस्वाभाविक न मालूम हो!

मगर हां, जीवन के इन्हीं कई दिनों में मैं समझ गई हूं कि असाध्य-असम्भव तो कुछ है ही नहीं। नवाब खानदान की महलों में बन्द रहनेवाली नवाबज़ादी के लिए बाहर का संसार बहुत ही दुर्गम हो सकता है, पर है वह काल्पनिक ही। एक बार अगर बाहर निकल पड़े, तो उसके लिए चलने का रास्ता हो ही जाता है। वह रास्ता नवाबी रास्ता न सही, पर रास्ता ज़रूर है। उस रास्ते से मनुष्य चिरकाल से चलता आ रहा है, वह रास्ता ऊबड़खाबड़, विचित्र और सीमाहीन है, शाखा प्रशाखाओं से विभक्त है, सुख-दुःख और विघ्न-बाधाओं से जटिल है; पर है वह रास्ता ही।

साधारण मानव के उस साधारण मार्ग पर अकेली नवाबज़ादी की लम्बी भ्रमण-कहानी सुनने में सुखदायक न होगी। और हो भी, तो उन बातों को कहने के लिए मुझमें ज़रा भी उत्साह नहीं। सौ बात की एक बात यह है कि दुःख-कष्ट, आपत-विपत, मान-अपमान बहुत कुछ सहना पड़ा है मुझे, फिर भी कल तक जीवन असह्य नहीं हुआ। आतिशबाज़ी की तरह जितनी जली हूं उतनी ही तेज़ रफ्तार से घूमती रही हूं। जब तक तेज़ी से घूमती रही तब तक 'जल रही हूं' इस बात का ज्ञान न था। आज सहसा वह परम दुःख की, वह चरम सुख की दीपशिखा हवा के एक ही झोंके में बुझ गई; और साथ ही मैं भी रास्ते के एक किनारे धूल पर जड़ वस्तु की तरह गिर पड़ी। आज ही मेरी जीवन-यात्रा, मेरी ज़िन्दगी का सबसे बड़ा और सबसे प्यारा सफर खतम हुआ है। और, मेरी कहानी भी यहीं खतम है।"

इतना कहकर नवाबज़ादी फिर चुप हो गईं। मैंने मन ही मन सिर हिलाया, 'ऊं-हूंक्, यहां तो किसी तरह खतम हो ही नहीं सकती।' कुछ देर चुप रहकर मैंने टूटी-फूटी उर्दू में कहा, "बेअदबी माफ कीजिएगा, आखिरी दिन की बात ज़रा कुछ खुलासा करके कहें तो मेरे मन की घबराहट कुछ कम हो सकती है।"

नवाबज़ादी हंस दीं। समझ गया कि मेरी टूटी-फूटी उर्दू काम कर गई। अगर मैं खास उर्दू में बात कर सकता, तो मेरे सामने उनकी लज्जा दूर नहीं होती, बल्कि मैं जो उनकी मातृभाषा बहुत कम जानता हूं, यही हम दोनों के बीच बहुत बड़ा परदा था, यही आबरू थी।

उन्होंने फिर कहना शुरू किया:

" केशरलाल की खबर मुझे लगभग बराबर ही मिलती रहती थी। लेकिन किसी भी तरह उनसे मेरी भेंट न हो सकी। वे तात्या टोपी के गुट में मिलकर उस बगावत और क्रान्ति से छाए हुए आकाश के नीचे अकस्मात् कभी पश्चिम में तो कभी पूरब में, कभी दक्षिण में तो कभी उत्तर में, बिजली की तरह क्षण में टूट पड़ते और क्षण में बिला जाते।

मैं तब योगिन बनकर काशी के शिवानन्द स्वामी को अपना धर्म-पिता मानकर उनसे संस्कृत शास्त्रों का अध्ययन कर रही थी। भारत-वर्ष के सब समाचार उनके चरणकमलों में आकर इकट्ठे होते थे। मैं परम भक्ति के साथ शास्त्र पढ़ती थी और शंकित चित से हृदय-विदारक आकुलता के साथ युद्ध के समाचार भी लेती रहती थी।

धीरे-धीरे अंग्रेजी सरकार ने विद्रोह की आग को पैरों-तले कुचल-कर बुझा दिया। तब फिर सहसा केशरलाल का समाचार मिलना बन्द हो गया। भीषण प्रलय-प्रकाश की लाल किरणों के भीतर भारत के दूर-दूरान्तर से जो वीरमूर्तियां क्षण-क्षण में दिखाई देती थीं वे सहसा अंधकार में विलीन हो गईं।

फिर तो मुझसे रहा नहीं गया। गुरु का आश्रय छोड़कर मैं भैरवी के वेश में निकल पड़ी। अनेक मार्गों में, तीर्थों में, मठ और मन्दिरों में भ्रमण करती रही। कहीं भी केशरलाल का पता नहीं चला। दो-एक के मुंह से जो उनका नाम जानते थे, सुना कि 'वे या तो लड़ाई में मारे गए हैं या सरकार ने उन्हें फांसी पर चढ़ा दिया है।' मेरी अंतरात्मा ने कहा, 'कदापि नहीं, केशरलाल की मृत्यु हो ही नहीं सकती। वह ब्राह्मण, वह प्रज्ज्वलित अग्निशिखा कभी बुझ नहीं सकती—मेरी आत्माहुति ग्रहण करने के लिए अब भी वह कहीं न कहीं किसी दुर्गम, निर्जन यज्ञवेदी पर ऊर्ध्वशिखा होकर जल रही होगी।'

हिन्दू-शास्त्रों में लिखा है, ज्ञान के द्वारा, तपस्या के द्वारा शूद्र ब्राह्मण हुए हैं। मुसलमान ब्राह्मण हो सकता है या नहीं, इस बात का कोई उल्लेख नहीं। इसका एकमात्र कारण है उस समय मुसलमान यहां थे नहीं। मैं जानती थी कि केशरलाल के साथ मेरे मिलन में बहुत विलम्ब है, कारण, उसके पहले मुझे ब्राह्मण होना होगा। एक-एक करके तीस वर्ष बीत गए। मैं भीतर से, बाहर से, आचार में, व्यवहार में, मन-वचन-कार्य से ब्राह्मण हो गई। मेरी उन ब्राह्मण दादी का रक्त

निष्पाप तेज से मेरे सारे शरीर में प्रवाहित होने लगा। मैंने मन ही मन अपने यौवनारम्भ के उस प्रथम ब्राह्मण, अपने यौवन-शेष के उस शेष ब्राह्मण, अपने त्रिभुवन के उस एकमात्र ब्राह्मण के चरणों में बिल्कुल निःसंकोच होकर अपने को समर्पित करके एक अपूर्व दीप्ति प्राप्त कर ली।

युद्ध-विद्रोह के समय केशरलाल की वीरता की बातें मैंने बहुत सुनी थीं, पर वे मेरे हृदय पर अंकित नहीं हुई। मैंने जो उस दिन निःशब्द चांदनी रात में निस्तब्ध जमुना के मध्यस्रोत में एक छोटी-सी नाव पर अकेले केशरलाल को बहते जाते देखा था, वही चित्र, वही चित्र अब तक मेरे हृदय में अंकित था। मैं दिन-रात केवल एक ही दृश्य देख रही थी कि वह वीर ब्राह्मण किसी जनहीन अनिर्दिष्ट महा रहस्य की ओर बराबर बढ़ता ही चला जा रहा है। उसका न तो कोई साथी है, न कोई सेवक है; किसीकी भी उसे कोई आवश्यकता नहीं है। वह निर्मल आत्म-निमग्न पुरुष अपने में आप ही सम्पूर्ण है। आकाश के ग्रह-चन्द्र-तारागण नीरव होकर उसे निरीक्षण कर रहे हैं।

इसी समय समाचार मिला कि केशरलाल राजदण्ड से निकलकर नेपाल की तरफ भाग गए हैं। मैं नेपाल पहुंची। वहां बहुत दिनों तक रही। मालूम हुआ कि केशरलाल, बहुत दिन हुए, नेपाल छोड़कर अन्यत्र कहीं चल गए हैं, उनका कुछ पता नहीं।

उसके बाद अनेक पहाड़ छान डाले, कहीं पता न चला। यह हिन्दुओं का देश नहीं है। यहां के भूटानी लेपचा लोग म्लेच्छ हैं। इनके आहार-व्यवहार में आचार-विचार कुछ नहीं है। इनके देवता और इनकी पूजा-अर्चना की विधि सब भिन्न हैं। बहुत दिनों की साधना से मैंने जो विशुद्ध शुचिता प्राप्त की थी, मुझे भय होने लगा कि उसपर कहीं कोई दाग न पड़ जाए, कोई धब्बा न लग जाए। मैं बड़ी कोशिश से सब तरह के मलिन संस्पर्शों से अपनी रक्षा करती हुई चलने लगी। मैं जानती थी कि मेरी नाव किनारे आ पहुंची है, मेरे जीवन का परम पुनीत चरमतीर्थ अब बहुत ही पास आ गया है।

इसके बाद, और क्या कहूं? अन्त की बात तो बहुत ही थोड़ी है। दीया जब बुझता है तो एक फूंक से ही बुझ जाता है। उस बात की अब लम्बी-चौड़ी क्या व्याख्या करूं?···अड़तीस वर्ष बाद, दार्जिलिंग में आकर आज सवेरे मैंने केशरलाल को देखा है।"

वक्ता को यहीं चुप होते देख मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा, "क्या देखा ?"

नवाबज़ादी ने कहा, "देखा, वृद्ध केशरलाल भूटानी बस्ती में भूटानी स्त्री और उससे पैदा हुए अपने नाती-पोतों के साथ मैले-कुचैले कपड़े पहने खेती का काम कर रहे हैं !"

किस्सा खतम हुआ। मैंने सोचा कि अब कोई सान्त्वना की बात कहनी चाहिए। बोला, "अड़तीस वर्ष तक लगातार जिसे दिन-रात प्राणों के भय से विजातीयों के संसर्ग में रहना पड़ा है, वह अपने आचार-विचार की किस तरह रक्षा कर सकता है ?"

नवाबज़ादी ने कहा, 'मैं क्या यह नहीं समझती ? पर, इतने दिनों तक मैं किस मोह की मारी फिर रही थी ? जिस ब्राह्मणत्व ने मेरे किशोर हृदय को हर लिया था, मैं क्या जानती थी कि वह केवल एक अभ्यास है, आदत है, सिर्फ संस्कार-मात्र है ? मैं समझती थी कि वह धर्म है, अनादि है, अनन्त है, हमेशा एक-सा बना रहेगा। ऐसा ही यदि न होता, तो सोलह वर्ष की उमर में पहले-पहल पिता के घर से निकलकर उस निस्तब्ध चांदनी रात में, अपने नवविकसित, सद्यः-पुष्पित, भक्ति-वेग से कम्पित तन-मन प्राणदान के बदले उस ब्राह्मण के दाहिने हाथ से मुझे जो दुःसह अपमान मिला था, उसे क्यों मैं गुरु के हाथ की दीक्षा समझकर चुपचाप अवनत मस्तक से दूनी भक्ति के साथ शिरोधार्य करती ? हाय, ब्राह्मण, तुमने तो अपनी एक आदत के बदले दूसरी आदत अख्तियार कर ली, पर मैं अपने एक यौवन, एक जीवन के बदले दूसरा जीवन, दूसरा यौवन कहां पाऊं ! "

इतना कहकर वे तेज़ी से उठ खड़ी हुईं, बोलीं, "नमस्कार बाबूजी!"

क्षण-भर बाद ही, मानो अपनी गलती को सुधारकर फिर बोलीं, "सलाम, बाबू साहब !"

इस मुसलमानी अभिवादन के द्वारा मानो उन्होंने धूल में मिले हुए उस जीर्ण-शीर्ण ब्राह्मणत्व से अन्तिम विदा ली, और मेरे कुछ कहने के पहले ही वे हिमालय के उस भूरे रंग के कुहरे में बादल की तरह विलीन हो गईं।

मैं कुछ देर आंखें मीचे हुए नवाबज़ादी के जीवन की सारी घटनाओं को अपने मानस-पटल पर चित्रित देखने लगा। यमुना-तट के किले के झरोखे के पास मसनद पर आराम से बैठी हुई षोडशी नवाब-

नन्दनी को देखा, तीर्थ और मन्दिरों में संध्या-आरती के समय भक्ति-भाव से गद्गद एकाग्र चित्त तपस्विनी को देखा, और उसके बाद इस दार्जिलिंग पहाड़ पर कलकत्ता रोड के किनारे एक प्रवीण, प्रौढ़ा रमणी की कुहरे से ढकी हुई भग्न हृदय के भार से कातर नैराश्य की मूर्ति भी देखी। एक सुकुमार रमणी देह में ब्राह्मण-मुसलमान की रक्त-तरंगों की विपरीत संघर्षजनित विचित्र, व्याकुल, संगीत-ध्वनि सुन्दर सुसम्पूर्ण प्रांजल भाषा में विगलित होकर मेरे मस्तिष्क के अन्दर स्पन्दित होने लगी।

आंखें खोलकर देखा, तो सहसा बादल दूर हो गए हैं; और स्निग्ध सूर्य-किरणों से निर्मल आकाश आंखों में चकाचौंध पैदा कर रहा है। रिक्शा में अंगरेज़ महिलाएं और घोड़े की पीठ पर अगरेज़ पुरुष सैर करने निकल पड़े हैं। बीच-बीच में दो-एक भारतीय गले में गुलूबन्द लपेटे हुए मेरी ओर सकौतुक कटाक्ष करते हुए चले जा रहे हैं।

मैं जल्दी से उठ खड़ा हुआ। सूर्यालोक से आलोकित अनावृत संसार-दृश्य में बादलों से ढकी हुई वह कहानी मुझे सच नहीं मालूम हुई। मै समझता हूं कि मैंने पर्वत के कुहरे के साथ अपनी सिगरेट का काफी धुआं मिलाकर एक कल्पना-खण्ड रच डाला था। वह मुसलमान-ब्राह्मणी, वह विप्र वीर और यमुना-तट का वह किला, कुछ भी सच नहीं था।

[मूल रचना : वैसाख, १९५५]

दुलहिन

बहुत पुरानी बात है। बचपन में जिस स्कूल में मैं पढ़ता था उसमें नीचे के दरजे में पण्डित शिवनाथ से हम लोग पहाड़ा पढ़ा करते थे। उनकी दाढ़ी-मूंछें सफाचट, सिर के बाल जड़ तक छटे हुए और उस-

पर छोटी-सी चोटी शोभा पाया करती थी। उन्हें देखते ही लड़कों के प्राण सूख जाते थे।

प्राणियों में अक्सर यह बात देखने में आती है कि जिनके डंक हैं उनके दांत नहीं होते। पर हमारे पण्डितजी में दोनों बातें एकसाथ मौजूद थीं। एक ओर उनके थप्पड़-घूंसे हम पौधों पर ओलों की तरह बरसते तो दूसरी ओर कठोर वचन सुनकर सबको छटी की याद आ जाती।

पण्डितजी को इस बात का बड़ा अफसोस था कि 'गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अब पुराने ज़माने जैसा नहीं रहा, विद्यार्थी अब देवता के समान गुरु की भक्ति नहीं करते।' इस तरह अपना अफसोस ज़ाहिर करके वे अपनी उपेक्षित देव-महिमा को बालकों के सिर पर ज़ोरों से पटक दिया करते, और कभी-कभी गहरा हुंकार भरते, किन्तु उसके भीतर इतनी ओछी बातें मिली रहतीं कि उसे देवता के वज्रनाद का रूपान्तर समझ लेने का भ्रम किसीको नहीं होता था।

खैर, कुछ भी हो, हमारे स्कूल का कोई भी लड़का इस तीसरे दरजे के दूसरे विभाग के देवता को इन्द्र, चन्द्र, वरुण अथवा कार्तिक न समझता था। सिर्फ एक ही देवता के साथ उनकी तुलना होती थी, जिनका कि नाम यमराज है, और इतने दिनों बाद अब तो यह मानने में कोई दोष ही नहीं और न डर है कि हम लोग मन ही मन चाहते थे कि उक्त देवालय को प्रस्थान करने में अब वे ज़्यादा देर न करें तो अच्छा है।

पर इतना तो हम लोगों ने अच्छी तरह समझ लिया था कि नर-देवता के समान दूसरी बला नहीं। सुरलोकवासी देवता उपद्रव नहीं करते। पेड़ से दो-एक फूल तोड़कर चढ़ा देने से वे खुश हो जाते हैं, और न दो तो तकाज़ा नहीं करते। किन्तु हमारे पण्डित देवता बहुत अधिक आशा रखते थे, और हमसे ज़रा भी त्रुटि हो जाती तो वे लाल-लाल आंखें निकालकर मारने दौड़ते थे। उस समय वे किसी भी तरफ से देवता जैसे नहीं दिखाई देते।

लड़कों को तकलीफ देने के लिए हमारे शिवनाथ पण्डित के पास एक अस्त्र था, जो सुनने में मामूली किन्तु वास्तव में बहुत खतरनाक था। वे लड़कों के नये-नये नाम रखते थे। नाम यद्यपि शब्द के सिवा और कुछ भी नहीं, पर, आदमी जो अपने से अपने नाम को

ज़्यादा चाहता है ! अपने नाम की प्रसिद्धि के लिए लोग क्या-क्या कष्ट नहीं सहा करते ? यहां तक कि नाम की रक्षा के लिए लोग मरने से भी नहीं हिचकिचाते ।

नाम पर मर मिटनेवाले मानव के नाम को विकृत कर देना उसकी जान से प्यारी जगह पर चोट पहुंचाना है । और तो क्या, जिसका नाम 'भूतनाथ' है उसे अगर 'नलिनीकान्त' कहा जाए, तो उसके लिए भी यह असह्य है ।

इससे एक खास तत्त्व की जानकारी होती है, वह यह कि आदमी चीज़ की अपेक्षा नाचीज को ज़्यादा कीमती समझता है; यानी, सोने-चांदी की अपेक्षा बात को, प्राणों की अपेक्षा मान को, अपने-से अपने नाम को बड़ा मानता है ।

मानव-स्वभाव के अन्तर्निहित इस गूढ़ नियम के वश होकर पण्डितजी ने जब शशिशेखर का नाम 'छछूंदर' रख दिया तब वह बेचारा बहुत ही दुःखित हुआ । खासकर इसलिए उसकी मर्म-व्यथा और भी बढ़ गई कि उक्त नामकरण की बजह से उसके चेहरे पर खास तौर से गौर किया जाता था । फिर भी अत्यन्त शान्त भाव से, सब सहते हुए, उसे चुपचाप बैठा रहना पड़ा ।

पण्डितजी ने आशुतोष का नाम रखा था 'दुलहिन', और इस नाम के साथ थोड़ा-सा इतिहास भी है ।

आसू अपने दरजे में बहुत ही सीधा-सादा और भोलाभाला लड़का था । वह हमेशा चुप बना रहता, लड़ना-झगड़ना तो उसकी जन्मपत्री में ही नहीं लिखा था । बड़ा झेंपू था । उमर में भी शायद वह सबसे छोटा था । सभी बातें सुनकर मुस्करा देता था; किन्तु पढ़ता खूब था । स्कूल के बहुत-से लडके उसके साथ मित्रता करने को उत्सुक थे । पर वह किसीके साथ खेलता न था । छुट्टी होते ही तुरत-फुरत घर चला जाता था ।

दोपहर को एक बजे के करीब उसके घर की महरी एक दोने में कुछ मिठाई और छोटे-से गिलास में पानी लेकर आया करती । आसू को इसके लिए बड़ी शर्म मालूम होती । वह सोचता कि महरी किसी तरह घर लौट जाए तो वह जी जाए । वह नहीं चाहता था कि इस बात को कोई जाने कि स्कूल के छात्र के अलावा वह और भी कुछ है । मानो उसके लिए यह बहुत ही छिपाने की बात थी कि वह घर का

कोई है, अपने मां-बाप का लड़का है भाई-बहनों का भाई है। इस विषय में हमेशा उसकी यही कोशिश रहती कि कोई लड़का उसकी कोई भी बात जान न ले।

पढ़ने-लिखने में उसकी कोई त्रुटि न होती थी, सिर्फ किसी-किसी रोज़ स्कूल आने में ज़रा कुछ देर हो जाया करती थी। शिवनाथ पण्डित जब उससे कारण पूछते तो वह उसका कोई सदुत्तर न दे सकता था। इसके लिए कभी-कभी उसे बड़ी फटकार सहनी पड़ती थी। पण्डितजी उसे घुटनों पर हाथ रखकर पीठ नीची करके दालान की सीढ़ियों पर खड़ा कर देते थे, और चारों दरजों के लड़के उस झेंपू लड़के को उस हालत में देखा करते थे।

एक दिन ग्रहण की छुट्टी थी। उसके दूसरे दिन, स्कूल में चौकी पर बैठे हुए पण्डितजी ने देखा कि एक सिलेट और स्याही लगे बस्ते में पढ़ने की किताबें लपेटे हुए, और दिनों की अपेक्षा बहुत संकुचित भाव से आसू क्लास में घुस रहा है।

शिवनाथ पण्डित ने सूखी हंसी हंसते हुए कहा, "अच्छा 'दुलहिन' आ गई क्या?"

पढ़ाई खतम होने पर, छुट्टी होने के पहले उन्होंने सब लड़कों को सम्बोधन करके कहा, "सुनो रे, सब कोई सुनो…"

पृथ्वी की सम्पूर्ण मध्याकर्षण-शक्ति ज़ोरों से बालक को नीचे की ओर खींचने लगी, फिर भी छोटा-सा आसू अपनी बेंच पर धोती का एक छोर और दोनों पैर लटकाए हुए सब लड़कों का लक्ष्यस्थल बना बैठा रहा। अब तक तो आसू की काफी उमर हो चुकी होगी और उसके जीवन में बहुत-से भारी-भारी सुख-दुःख और लज्जा के दिन भी आए होंगे, किन्तु उस दिन के बाल-हृदय के इतिहास के साथ और किसी दिन की तुलना नहीं हो सकती। हालांकि बात बहुत छोटी-सी है और दो शब्दों में खतम हो जाती है, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसमें एक रहस्य है।

आसू की एक छोटी बहन थी, उसके बराबर की कोई साथिन या बहन न थी, इसलिए वह आसू के साथ ही खेला करती थी।

लोहे की रेलिंग से घिरा हुआ गेटवाला आसू का मकान है। सामने गाड़ी ठहरने के लिए बरण्डा है। उस दिन खूब वर्षा हो रही थी। जूते

हाथ में लिए सिर पर छतरी ताने जो दो-चार आदमी सामने से जा-आ रहे थे, उन्हें किसी भी तरफ ताकने की फुरसत न थी। बादलों के उस अन्धकार में, वर्षा के झमझम शब्द में, तमाम दिन की छुट्टी में, गाड़ी-बरण्डे के नीचे की सीढ़ियों पर बैठा आसू अपनी बहन के साथ खेल रहा था।

उस दिन उनके गुड्डा-गुड़ियों का ब्याह था। उसीकी तैयारी के बारे में आसू अत्यन्त गम्भीरता के साथ अपनी बहन को उपदेश दे रहा था।

अब सवाल उठा कि पुरोहित किसे बनाया जाए ? बालिका चट-से दौड़ी गई और सामने खड़े एक आदमी से पूछने लगी, "क्यों जी, तुम हम लोगों के पुरोहित बनोगे ?"

आसू ने पीछे मुंह फेरकर देखा कि शिवनाथ पण्डित अपनी भीजी छतरी समेटे पानी से तरबतर बरामदे में खड़े हैं। रास्ते से जा रहे थे, वर्षा ज़्यादा होने से यहां ठहर गए हैं। बालिका उनसे पुरोहित बनने के लिए आग्रह कर रही है।

पण्डितजी को देखते ही आसू अपने खेल और बहन दोनों को छोड़-छाड़कर एक दौड़ में मकान के अन्दर भाग गया। उसका छुट्टी का दिन बिलकुल ही मिट्टी में मिल गया।

दूसरे दिन शिवनाथ पंडित ने जब सूखी हंसी के साथ भूमिका के रूप में इस घटना का उल्लेख करके आसू का नाम 'दुलहिन' रख दिया, तब उसने, पहले जैसे सभी बातों में मुस्करा देता था वैसे ही मुस्कराकर, अपने चारों तरफ की हंसी में शामिल होने की कोशिश की। इतने में घण्टा बज गया, सब दरजों के लड़के बाहर चले गए, और एक दोने में थोड़ी-सी मिठाई और चमकते हुए फूल के गिलास में पानी लिए हुए महरी दरवाज़े पर आ खड़ी हुई।

उस समय हंसते-हंसते उसका मुंह और कान सुर्ख हो उठे, व्यथित ललाट की नसें फूल उठीं और वेग से निकलते हुए आंसू रोके न रुक सके।

पण्डितजी आरामघर में जलपान करके निश्चिन्त मन से हुक्का पीने लगे। लड़के बड़े आनन्द से आसू को घेरकर 'दुलहिन' 'दुलहिन' कहकर हल्ला मचाने लगे। छुट्टी के दिन का अपनी छोटी बहन के साथ खेला हुआ वह खेल आसू की दृष्टि में अपने जीवन का एक सबसे

बढ़कर लज्जाजनक भ्रम मालूम होने लगा। उसे विश्वास ही न हुआ कि दुनिया के आदमी कभी भी उस दिन की बात को भूल जाएंगे।

[मूल रचना : १९४८]

कंकाल

हम तीनों बचपन के साथी जिस कमरे में सोते थे उसके बगल के कमरे में दीवार पर एक नर-कंकाल टंगा रहता था। रात को हवा से उसकी हड्डियां खड़खड़ाया करती थीं। दिन में हमें उन हड्डियों को हिलाना पड़ता था। कारण हम लोग तब पण्डितजी से 'मेघनाद-वध' काव्य और कैम्बेल स्कूल के एक विद्यार्थी से अस्थि-विद्या पढ़ा करते थे। हमारे बुजुर्ग चाहते थे कि हम लोगों को एकाएक सर्वविद्या में पारदर्शी कर डालें। उनका वह इरादा कहां तक पूरा हुआ, यह बात जो हमें जानते हैं उनके सामने प्रकट करना फ़जूल है, और जो नहीं जानते उनसे छिपा जाना ही अच्छा है।

उसके बाद बहुत समय बीत चुका है। इस बीच में उस घर से कंकाल और हम लोगों के दिमाग से अस्थि-विद्या निकलकर न जाने कहां चली गई, कुछ पता नहीं।

थोड़े दिन हुए, एक दिन रात को, किसी कारण से और कहीं जगह न मिलने से मुझे उसी कमरे में सोना पड़ा जिसमें किसी ज़माने में कंकाल था। आदत न होने से नींद नहीं आई। करवट बदलते-बदलते गिरजा की घड़ी में बड़े-बड़े घण्टे लगभग सभी बज गए। इतने में, घर के एक कोने में जो तेल का दीया जल रहा था वह भी पांच-एक मिनट बुत-बुत करके बिलकुल ही बुझ गया। इसके कुछ पहले हमारे घर दो-एक मौत हो चुकी थीं। इसीसे इस दीये के बुझते ही मौत की बात याद आ गई। मालूम हुआ, यह जो आधी रात के वक्त एक दीपशिखा चिरअन्धकार में बिला गई, प्रकृति के लिए जैसी यह है वैसी ही मनुष्य

की छोटी-छोटी प्राणशिखाएं हैं, जो कभी दिन में और कभी रात में सहसा बुझकर हमारी स्मृति से सदा के लिए मिट जाती हैं।

क्रमश: उस कंकाल की बात याद आ गई। उसकी जीवित अवस्था के विषय में कल्पना करते-करते सहसा ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई चेतन पदार्थ अन्धकारमय घर में दीवार टटोलता हुआ मेरी मशहरी के चारों तरफ घूम रहा हो। और उसकी घनी-घनी सांस मुझे साफ-साफ सुनाई देने लगी। ऐसा लगा जैसे वह कोई खोई हुई चीज़ ढूंढ़ रहा हो, वह मिल नहीं रही हो और उसके लिए तेज़ी के साथ घर भर में घूम रहा हो। मैंने निश्चित समझ लिया कि यह सब कुछ मेरे निद्राहीन गरमाए हुए मस्तिष्क की कल्पना है। और मेरे ही माथे में भन्नाता हुआ जो खून दौड़ रहा है वही पैरों की आहट जैसा सुनाई दे रहा है। किन्तु फिर भी, डर के मारे रोंगटे खड़े हो उठे। इस फज़ूल के डर को ज़बर-दस्ती दूर करने के इरादे से मैं बोल उठा, "कौन है ?"

पैरों की आहट मेरी मशहरी के पास आकर थम गई, और एक जवाब सुन पड़ा, "मैं हूं। मेरा वह कंकाल कहां गया ? उसे ढूंढ़ने आई हूं।"

मैंने सोचा कि अपनी काल्पनिक सृष्टि के आगे डरना-डराना कुछ मानी नहीं रखता। और, गाव-तकिये से ज़ोर से चिपटकर मैंने चिर-परिचित की तरह सहज स्वर में कहा, "वाह आधी रात के वक्त काम तो खूब ढूंढ़ निकाला है ! अब उस कंकाल से तुम्हें मतलब ?"

अंधेरे में मशहरी के बहुत ही पास आकर उसने कहा, "खूब कहा ! अरे, मेरी छाती की हड्डियां तो उसीमें थीं ! मेरा छब्बीस वर्ष का यौवन तो उसीके चारों ओर विकसित हुआ था ! एक बार देखने की तबियत नहीं होती ?"

मैंने उसी वक्त कहा, "हां, बात तो ठीक है। तो तुम ढूंढ़ो, जाओ। मैं ज़रा सोने की कोशिश करूं।"

उसने कहा, "तुम अकेले ही हो क्या ? तो ज़रा बैठ जाऊं। आज ज़रा गपशप होने दो। आज से पैंतीस साल पहले मैं भी आदमियों के पास बैठकर आदमियों की तरह ही गपशप किया करती थी। ये पैंतीस साल मैंने सिर्फ श्मशान की हवा में हू-हू करते हुए बिताए हैं। आज तुम्हारे पास बैठकर और एक बार आदमियों की तरह गपशप कर लूं।"

मुझे ऐसा लगा जैसे वह मशहरी के पास आकर बैठ गई। और

कोई चारा न देख मैंने जरा उत्साह के साथ ही कहा, "हां, यह ठीक है। ऐसा कोई किस्सा छेड़ो जिससे तबियत खुश हो जाए।"

उसने कहा, "सबसे बढ़कर मजे का किस्सा सुनना चाहते हो तो मैं अपनी जिन्दगी का किस्सा सुनाती हूं, सुनो।"

गिरजे की घड़ी में टन्-टन् दो बजे। वह कहने लगी, "जब मैं मनुष्य थी और छोटी थी तब एक आदमी से मैं यम की तरह डरती थी। वे थे मेरे पति। मछली को कांटे में फंसा लेने पर वह जैसे फड़फड़ाती है मैं भी वैसे ही तड़पती थी। मुझे तब ऐसा लगा जैसे कोई एक बिलकुल अपरिचित आदमी स्नेह-जल से भरे मेरे जन्म-जलाशय से मुझे काटे में फसाकर खींचे लिए जा रहा हो, किसी तरह उसके हाथ से छुटकारा नहीं मिलने का। ब्याह के दो महीने बाद ही मेरे पति की मृत्यु हो गई। घरवालों और नाते-रिश्तेदारों ने मेरी तरफ से बहुत कुछ शोक-विलाप किया। मेरे ससुर ने बहुत-से लक्षण मिलाकर सास से कहा, शास्त्रों में जिसे विषकन्या कहा गया है, मैं वही हू। यह बात मुझे अभी तक बिलकुल स्पष्ट याद है।—सुनते हो, कहानी कैसी लग रही है?"

मैंने कहा, "अच्छी है, कहानी का प्रारम्भ तो बड़े मज़े का है।"

"तो सुनो। आनन्द से मायके लौट आई। क्रमशः उमर बढ़ने लगी। लोग मुझसे छिपाते थे, पर मैं खूब अच्छी तरह जानती थी कि मुझ जैसी रूपवती जहां-तहां नहीं मिलती। क्यों तुम्हारी क्या राय है?"

"हो सकता है। लेकिन, मैंने तो तुम्हें कभी देखा नहीं।"

मेरा जवाब सुनते ही वह ठहाका मारकर हंस पड़ी; और फिर कहने लगी, "दिखा नहीं! क्यों, मेरा वह कंकाल? हिःहिःहिःहिः, मैं तुमसे मज़ाक कर रही हूं! तुम्हारे सामने मैं कैसे साबित करू कि मेरी उन आंखों की खोखली हड्डियों के अंदर कमान-सी खिची हुई, भौंरे-सी काली, बड़ी-बड़ी दो आंखें थीं, और उन रंगीन होंठों पर जो मीठी-मीठी मुसकान थी उसकी अब इन उघड़े हुए दांतों की विकट हंसी के साथ किसी तरह तुलना ही नहीं हो सकती। कैसे समझाऊ कि इन्हीं इनी-गिनी लम्बी-सूखी हड्डियों के ऊपर इतना लालित्य था और यौवन की इतनी कठिन-कोमल, सुघड़ परिपूर्णता प्रतिदिन खिलती रहती थी कि तुमसे कहने में मुझे हंसी भी आती है और क्रोध भी।

मेरे उस शरीर के से कंकाल से अस्थि-विद्या सीखी जा सकती है, यह बात उस ज़माने में बड़े-बड़े डाक्टरों के दिमाग में भी न आती थी। मुझे खूब याद है, एक डाक्टर ने अपने एक खास मित्र से मुझे 'कनक-चम्पा' बताया था। उसके मानी यह थे कि दुनिया के और सब आदमी अस्थि-विद्या और शरीर-तत्त्व के दृष्टान्त बन सकते हैं, किन्तु मैं ही सिर्फ एक ऐसी हूं कि जिसे खुशबूदार खूबसूरत फूल के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। कनक-चम्पा के भीतर क्या कोई कंकाल होता है?

"मैं जब चलती तो मुझे ऐसा लगता जैसे हीरे को हिलाने से उसके चारों ओर प्रकाश चमचमाता है, मेरी देह के ज़रा-से हिलने-डुलने में वैसी ही सौन्दर्य की चमक मानो अनेक स्वाभाविक हिल्लोलों में चारों ओर बिखरी पड़ती हो। कभी-कभी मैं बहुत देर तक अपने हाथ देखा करती; देखती कि संसार के समस्त उद्धत पौरुष के मुंह में लगाम डालकर मधुरता से उन्हें वश में कर सकते थे, ऐसे हाथ थे वे! सुभद्रा जब अर्जुन को लेकर बड़े दर्प के साथ अपने विजय-रथ को आश्चर्यचकित तीन लोक के बीच होकर चला ले गई थीं, तब शायद उनके ऐसी ही दो अस्थूल सुडौल भुजाएं, गुलाबी हथेलियां और लावण्य-शिखा के समान उंगलियां थीं!

"किन्तु, हाय, मेरे उस निर्लज्ज, निरावरण, निराभरण, चिरवृद्ध कंकाल ने तुम्हारे सामने झूठी गवाही दी है मेरी! तब मैं बेबस थी, कुछ बोल न सकती थी, इसीलिए संसार-भर में मेरा सबसे ज़्यादा क्रोध तुम्हीं पर है। ऐसी मन में आती है कि अपने उस सोलह वर्ष के जीवित और यौवन के ताप से उत्तप्त आरक्तिम रूप को एक बार तुम्हारी आंखों के सामने रख दूं। बहुत दिनों के लिए तुम्हारी आंखों की नींद छुड़ा दूं, तुम्हारी अस्थि-विद्या को अस्थिर करके देश-निकाला दे दूं!"

मैंने कहा, "तुम्हारी देह होती तो मैं तुम्हारी देह छूकर कहता कि उस विद्या का लेशमात्र भी अब मेरे मस्तिष्क में नहीं है। तुम्हारा वह भुवन-मोहन पूरे यौवन का रूप निशीथ रात्रि के इस अन्धकार पट पर जाज्वल्यमान होकर प्रस्फुटित हो उठा है। बस, अब ज़्यादा न कहलाओ।"

वह कहने लगी, "मेरी कोई सगी-सहेली न थी। भैया ने प्रतिज्ञा

कर ली थी कि वे व्याह न करेंगे। घर में सिर्फ मैं अकेली थी। बगीचे में पेड़ के नीचे बैठी-बैठी मैं सोचा करती, तमाम दुनिया मुझसे ही प्रेम करती है। आकाश के सारे तारे मुझसे ही देखा करते हैं, हवा छल से बार-बार गहरी सांस के रूप में मेरी ही बगल से निकल जाया करती है। जिस घास पर मैं पैर फैलाए बैठी हूं उसमें अगर चेतना होती तो वह भी मुझे पाकर फिर से अचेतन हो जाती। मुझे मालूम होता, संसार के सारे युवक उस घास के रूप में दल बांधकर चुपचाप मेरे पैरों के पास खड़े हैं। हृदय में बिना कारण न जाने कैसी तो एक वेदना-सी अनुभव करती रहती। मेरे भैया के मित्र शशिशेखर जब मेडिकल कालेज की आखिरी परीक्षा पास कर चुके, तो वे हमारे घर के डाक्टर हुए। उन्हें मैं पहले ओट में से छिपकर बहुत बार देख चुकी थी। भैया बड़े अजीब आदमी थे, दुनिया को मानो वे अच्छी तरह देख न सकते थे। दुनिया उनके लिए मानो काफी खुली हुई न थी, इसलिए हटते-हटते वे बिलकुल उसके एक किनारे पर जा लगे थे।

"उनके मित्रों में बस एक शशिशेखर ही थे। इसलिए बाहर के युवकों में मैं सिर्फ शशिशेखर को ही हमेशा से देखती आई थी। और, जब मैं शाम के वक्त फूल के पेड़ के नीचे साम्राज्ञी की तरह आसन जमाकर बैठती तब ऐसा लगता जैसे संसार की सम्पूर्ण पुरुष जाति शशिशेखर की मूर्ति धारण करके मेरे चरणों के पास आकर आश्रय लेना चाहती है। सुन रहे हो? कहानी कैसी मालूम देती है?"

मैंने एक गहरी सांस लेकर कहा, "मालूम होता है, मैं अगर शशिशेखर होकर पैदा होता तो अच्छा रहता।"

वह कहती गई, "पहले पूरी सुन तो लो। एक दिन की बात है, बदली का दिन था, मुझे बुखार चढ़ा। डाक्टर मुझे देखने भीतर आए। यही पहली मुलाकात थी।

"मैं खिड़की की तरफ मुंह किए लेटी थी, ताकि सूर्यास्त की लाल आभा चेहरे पर पड़े और उसका फीकापन जाता रहे। डाक्टर ने घर में घुसते ही मेरे मुंह की ओर एक बार देखा, और मैंने भी मन ही मन अपने को डाक्टर मानकर कल्पना से अपने मुंह की ओर देखा। शाम के उस गुलाबी उजाले में नरम तकिए पर लापरवाही से पड़ा हुआ मेरा वह चेहरा मुझे कुछ मुरझाया हुआ-सा कोमल फूल के समान दीख पड़ा, बिखरे हुए घुंघराले बाल माथे पर उड़ रहे थे और

लज्जा से झुकी हुई मेरी बड़ी-बड़ी आंखों के पलक गालों पर छाया डाल रहे थे।

"डाक्टर ने नम्रता के साथ मुलायम स्वर में भइया से कहा, 'एक बार नाड़ी देखनी होगी।' मैंने रेशमी फर्द में से अपना थका हुआ गोल-मटोल गोरा हाथ निकाल दिया। एक बार हाथ को निहारकर देखा, उसमें अगर नीले रंग की कांच की चूड़ियां पहने होती तो वह और भी अच्छा लगता। रोगी का हाथ थामकर नाड़ी देखने में डाक्टर की ऐसी चंचलता मैंने पहले कभी नहीं देखी। उन्होंने, छूने से डरती और कांपती हुई उंगलियों से, मेरी नाड़ी देखी। वे मेरे बुखार की गरमी समझ गए और मैंने भी उनकी अन्तर की नाड़ी कैसी चल रही है, इसका कुछ-कुछ आभास पाया।—क्यों विश्वास नहीं होता ?"

मैंने कहा, "अविश्वास का कोई कारण नहीं दीखता। आदमी की नाड़ी हर वक्त एक-सी नहीं चलती।"

वह कहने लगी, "हूं! क्रमशः और भी दो-चार बार रोगी और आरोग्य होने के बाद एक दिन मैंने देखा कि मेरी सन्ध्याकाल की मानस-सभा में संसार के करोड़ों पुरुषों की संख्या घटते-घटते अन्त में वह 'एक' पर आकर ठहर गई। मेरी दुनिया करीब-करीब सूनी-सी हो गई। संसार में सिर्फ एक रोगी और एक डाक्टर बच रहा।

"शाम होते ही मैं चुपके से उठकर बसन्ती रंग की साड़ी पहनती, अच्छी तरह जूड़ा बांधती, उसपर एक बेले की माला लपेटती, और-फिर एक दर्पण लेकर बगीचे में जा बैठती। क्यों? अपने को देख-देखकर क्या तृप्ति नहीं होती थी? सचमुच नहीं होती थी। क्योंकि मैं तो खुद अपने को नहीं देखती, मैं तब अकेली होकर दो हो जाती। मैं तब डाक्टर बनकर अपने को खूब निहार-निहारकर देखती। देखकर मोहित हो जाती, खूब प्रेम करती, लाड़-प्यार करती, और फिर भी हृदय के भीतर गहरी सांस उठ-उठकर शाम की आंधी की तरह सांय-सांय करके हाहाकार कर उठती।

तब से मैं अकेली नहीं रही, जब चलती तो नीचे को निगाह कर निरख-निरख के देखती कि पैरों की उंगलियां ज़मीन पर कैसे पड़ती हैं, और सोचती, इन पैरों का रखना हमारे नवीन परीक्षोत्तीर्ण डाक्टर को कैसा लगता होगा! खिड़की के बाहर दोपहरी धांय-धांय करती रहती, एक तरह का गरम सन्नाटा छा जाता, कहीं भी कोई शोर-गुल

नहीं, बीच-बीच में एक आध चील बहुत दूर आकाश में चीं-चीं करती हुई उड़ जाती, और हमारे बगीचे की चहारदीवारी के बाहर खिलौने-वाला गाने के स्वर में 'चाहिए खिलौना चाहिए, चूड़ी चाहिए' बोल जाता। मैं तब अपने हाथ से बिछौना करके उसपर एक धुली हुई सफेद महीन चादर बिछाकर सो जाती, और अपनी एक उघड़ी हुई बांह को कोमल बिछौने पर आदर से रखकर सोचती, इस हाथ को इस ढंग से रखते हुए मानो किसीने देख लिया, मानो किसीने दोनों हाथों से उसे उठा लिया, मानो किसीने उसकी गुलाबी हथेली पर चुम्बन रख दिया, और मानो धीरे-धीरे वह लौटा जा रहा है।—सुनते हो, मान लो, यहीं पर कहानी खतम हो जाए तो कैसा रहे ?"

मैंने कहा, "अच्छा ही रहे। जरा अधूरी तो रह जाएगी, पर मन ही मन पूरी करने में बाकी की रात मज़े से कट जाएगी।"

उसने कहा, "हूं ! किन्तु इससे कहानी बहुत गम्भीर हो जाएगी। इसका मजाक फिर कहां रहेगा ? इसके भीतर का 'कंकाल' अपने सारे दांत किटकिटाता हुआ कहां दिखाई देगा ?

"हां, फिर उसके बाद सुनो। ज़रा प्रैक्टिस बढ़ते ही डाक्टर ने हमारे मकान के नीचे एक दवाखाना खोल दिया। तब फिर मैं उनसे हंसी-हंसी में कभी दवा की बात, कभी ज़हर की बात, कभी आदमी आसानी से कैसे मर सकता है, यही सब ऊटपटांग बातें पूछती रहती। डाक्टरी विषयों में डाक्टर का मुंह खुल जाता। सुनते-सुनते मौत मानो परिचित घर के आदमी की तरह हो गई। फिर तो मुझे सिर्फ दो ही चीज़ें दुनिया में दीखने लगीं, प्यार और मौत। सुनो, मेरी कहानी अब करीब-करीब खतम हो चली है, अब ज़्यादा देर नहीं है।"

मैंने मुलायम स्वर में कहा, "रात भी करीब-करीब खतम हो आई।"

वह कहने लगी, "हां तो, कुछ दिनों से देखा गया कि डाक्टर साहब बड़े अनमने-से रहने लगे हैं, मेरे सामने तो बहुत ही झेंपते हैं। एक दिन देखा कि वे कुछ ज़्यादा ठाट-बाट से सज-धजकर भैया के पास आए और उनसे बग्घी मांगने लगे। रात को कहीं जाएंगे। मुझसे रहा न गया। भैया के पास जाकर बातों ही बातों में मैंने पूछा, 'भइया, डाक्टर आज बग्घी लेकर कहां जा रहे हैं ?' संक्षेप में भइया ने कहा, 'मरने।' मैंने कहा, 'बताओ न, भैया ?' उन्होंने पहले की अपेक्षा कुछ

और खुलासा करके कहा, 'ब्याह करने।' मैंने कहा, 'सचमुच ?' और खूब हंसने लगी।

"धीरे-धीरे मालूम हुआ कि इस ब्याह में डाक्टर को बारह हज़ार रुपये मिलेंगे। किन्तु, मुझसे यह बात छिपाकर मुझे अपमानित करने के क्या मानी ? मैंने क्या उनके पैरों पड़कर कहा था कि ऐसा काम करने से मैं छाती फाड़कर मर जाऊंगी ? पुरुषों का विश्वास नहीं। दुनिया में मैंने सिर्फ एक ही पुरुष देखा है; और एक ही क्षण में उसके बारे में पूरी जानकारी हासिल कर ली है।

"डाक्टर रोगियों को देखकर जब घर लौट आए, तो मैंने, खिल-खिलाकर खूब हंसते-हंसते कहा, 'क्यों डाक्टर साहब, मैंने सुना है कि आज आपका ब्याह होनेवाला है ?' मेरी हंसी देखकर डाक्टर सिर्फ झेंपे ही नहीं, बल्कि उनका चेहरा फक पड़ गया। मैंने पूछा, 'बाजे-आजे कुछ नहीं बुलाए ?' सुनकर उन्होंने एक लम्बी सांस ली, और बोले, 'ब्याह क्या इतने आनन्द की चीज़ है ?' हंसते-हंसते मैं लोट-पोट हो गई। ऐसी बात तो पहले कभी नहीं सुनी थी। मैंने कहा, 'सो नहीं होगा, बाजे होने चाहिए, रोशनी होनी चाहिए, पूरा-पूरा ठाट-बाट होना चाहिए।' उसके बाद भैया को मैंने ऐसा परेशान कर डाला कि भैया उसी वक्त धूम-धाम से बारात निकालने की तैयारी में लग गए।

"मैं बार-बार एक ही बात छेड़ने लगी कि बहू के घर आने पर क्या होगा, मैं क्या करूंगी ? डाक्टर से मैं पूछ बैठी, 'अच्छा, डाक्टर साहब, तब भी क्या आप इसी तरह रोगियों की नाड़ी मसकते फिरेंगे ?' हिः हिः हिः हिः ! यद्यपि मनुष्य का, और खासकर पुरुष का मन दिखाई नहीं देता, फिर भी मैं सौगन्ध खाकर कह सकती हूं कि मेरी बात डाक्टर की छाती में कांटे की तरह चुभकर रह गई।

"बहुत रात बीते लग्न था। शाम के वक्त डाक्टर छत पर बैठे भैया के साथ दो-एक गिलास शराब पी रहे थे। दोनों जने इस काम में कुछ-कुछ अभ्यस्त थे। धीरे-धीरे आकाश में चांद उदय होने लगा। मैं हंसती हुई ऊपर पहुंची, बोली, 'डाक्टर साहब, भूल गए क्या ? चलने का वक्त हो गया !'

"एक बात मैं कहना भूल गई। इस बीच में छिपकर दवाखाने में जाकर मैं थोड़ा-सा सफेद चूरा ले आई थी। छत पर पहुंचते ही दोनों की निगाह बचाकर मैंने उसे डाक्टर के गिलास में मिला दिया। फिस चूरे

के खाने से आदमी मर जाता है, यह डाक्टर से ही सीख लिया था।

"डाक्टर ने एक सांस में पूरा गिलास खाली करके मेरे मुंह की तरफ मर्मान्तिक दृष्टि डालकर भीजे हुए गद्गद कण्ठ से कहा, 'अच्छा तो अब चलता हूं?'

"शहनाई बजने लगी। नीचे उतरकर मैंने एक बनारसी साड़ी पहनी, और जितने भी गहने मेरे सन्दूक में बन्द रखे थे, सब के सब निकालकर पहन लिए। मांग में खूब अच्छी तरह सिन्दूर भर लिया; और फिर अपने उसी मौलसिरी के पेड़ के नीचे बिछौना बिछाकर लेट रही। बड़ी सुहावनी रात थी। सफेद चांदनी छिटक रही थी। सोती हुई दुनिया की थकावट दूर करती हुई दक्षिणी हवा चल रही थी। मौलसिरी और बेला की सुगन्ध से सारा बगीचा महक रहा था।

"शहनाई की तान क्रमशः जब दूर होती चली गई, चांदनी जब अन्धकार का रूप धारण करने लगी, मेरा वह मौलसिरी का पेड़, बगीचा, ऊपर का आकाश, नीचे का मेरा वह आजन्मकाल का घर-द्वार सब कुछ को लेकर दुनिया जब मेरे चारों तरफ से माया की तरह बिछाने लगी, तब मैं आंखें मीचकर हंसने लगी। इच्छा थी, जब लोग मुझे आकर देखें, तो मेरी वह हंसी रंगीन नशे की तरह मेरे होंठों पर ज्यों की त्यों लगी रहे। इच्छा थी, अपनी उस हंसी को यहां से मैं अपने साथ लेती जाऊं; और वहां जब मैं अपने अभिसार की सुहाग-कुटीर में धीरे-धीरे प्रवेश करूं तब तक वह ज्यों की त्यों बनी रहे।

"पर कहां गई मेरी वह सुहाग-कुटीर! कहां गया मेरा वह अभिसार का रंगीन मनोहर वेश! अपने भीतर से एक खट-खट की आवाज़ सुनकर मैं जाग गई। देखा तो, मुझे लेकर तीन लड़के अस्थि-विद्या सीख रहे हैं! छाती के भीतर जहां सुख-दुख धुक-धुक करता रहता था और एक-एक करके प्रतिदिन जहां यौवन की कलियां खिला-करती थीं, वहां, वहां बेंत दिखा-दिखाकर किस हड्डी का क्या नाम है, यह सीखा जा रहा है।

"सुनो, मैंने जो अपने सम्पूर्ण हृदय-मन को निचोड़कर अपने उन होंठों पर अन्तिम हंसी खिलाई थी, उसका कोई चिह्न तुम्हें दिखाई दिया था क्या?

"कहानी कैसी लगी?"

मैंने कहा, "बड़े मज़े की।"

इतने में कौआ बोल उठा।
मैंने पूछा, "अभी हो क्या ?"
कोई जवाब नहीं मिला।
घर में प्रभात का प्रकाश चमक उठा।

[मूल रचना : फाल्गुन, १६४८]

सज़ा

दुक्खी और छदामी कोरी दोनों भाई सवेरे उठकर जब हंसिया-गंड़ासा हाथ में लिए काम पर निकले तब उन दोनों की बहुओं में खूब ज़ोर की लड़ाई शुरू हो चुकी थी। मुहल्ले वाले प्रकृति की और-और नाना प्रकार की खटपट और कलरवों की भांति इस घर के कलह और उससे पैदा हुए शोरगुल के आदी हो गए थे। ज़ोर की चीख-चिल्लाहट और नारी-कण्ठ की गाली-गलौज कान में पडते ही लोग आपस में कहने लगते, 'लो, हो गया शुरू !' अर्थात् जैसी कि आशा थी, आज भी उस स्वाभाविक नियम में कोई फर्क नहीं पड़ा। सवेरा होते ही पूरब में सूरज निकलने पर जैसे कोई उसका कारण नहीं पूछता, ठीक वैसे ही कोरियों के इस घर में जब दोनों बहुओं में तकरार और गाली-गलौज शुरू हो जाती, तो फिर उसका कारण जानने के लिए मुहल्ले के किसीको भी रत्ती-भर कुतूहल नहीं होता।

हां, इतना ज़रूर है कि यह कलह-आन्दोलन पड़ोसियों की अपेक्षा दोनों पतियों को ज्यादा परेशान करता है, किन्तु फिर भी वे उसे किसी खास दिक्कत में नहीं गिनते। उनके मन का भाव ऐसा है, मानो दोनों भाई संसार-यात्रा का लम्बा सफर किसी इक्के में बैठकर तय कर रहे हैं; और उसके दोनों बिना कमानी के पहियों के लगातार घड़घड़-खड़खड़ शब्द को उन्होंने, जीवन-रथयात्रा के विधि-विहित नियमों में ही शामिल कर लिया है। बल्कि, घर में जिस रोज़ कोई शोरगुल

नहीं होता, चारों ओर सन्नाटा-सा रहता है, उस दिन कब क्या आफत आ खड़ी हो, कोई कुछ अन्दाज़ लगाकर नहीं कह सकता।

हमारी कहानी की घटना जिस दिन से शुरू होती है उस दिन शाम को दोनों भाई मेहनत-मजूरी करके हारे-थके जब घर लौटे, तो, देखा कि घर में सन्नाटा छाया हुआ है।

बाहर भी काफी उमस है। दोपहर को एक बार खूब ज़ोर से पानी बरस चुका है और अब भी बादल घुमड़ रहे हैं। हवा का नामो-निशान तक नहीं, वर्षा से घर के चारों तरफ का जंगल और घास-पौधे वगैरह बहुत बढ़ गए हैं, वहां से, और पानी में डूबे हुए पटसन के खेतों में से एक तरफ की घनी बदबूदार भाप-सी निकल रही है; और उसने चारों तरफ मानो एक निश्चल चहारदीवारी-सी खड़ी कर दी है। गुहाल के बगलवाली छोटी-सी तलैया में मेढ़क टर्रटर्र कर रहे है, और संध्या का निस्तब्ध आकाश मानो झींगुरों की झनकार से बिलकुल भर-सा गया है।

पास ही बरसात की पद्मा नदी नवीन मेघों से आच्छन्न होकर अत्यन्त स्थिर और भयंकर रूप धारण करके स्वच्छन्दता से बह रही है। अधिकांश खेतों को नष्ट करके वह बस्ती के करीब तक आ पहुंची है। यहां तक कि उसने आसपास के दो-चार आम-कटहर के पेड़ तक उखाड़कर गिरा दिए हैं, और उनकी जड़ें पानी से बाहर दीख रही हैं। मानो वे अपनी मुट्ठी की उंगलियों को आकाश में फैलाकर किसी आखिरी सहारे को पकड़ने की कोशिश कर रही हों।

दुक्खी और छदामी उस दिन गांव के ज़मींदार के यहां बेगार खटने गए थे। उस पार की रेती पर धान पक गए हैं। बरसात के पानी में डूब जाने के पहले ही धान काट लेने के लिए देश के गरीब किसान और मज़दूर सब कोई अपने-अपने खेत के काम या पटसन काटने में लग गए हैं। सिर्फ इन दोनों भाइयों को ज़मींदार के लोग ज़बरदस्ती बेगार में पकड़ ले गए थे। ज़मींदार की कचहरी के छप्पर में से जगह-जगह पानी चू रहा था। उसकी मरम्मत के लिए और कुछ टट्टियां बनाने के लिए वे दिन-भर कड़ी मेहनत करते रहे हैं। खाने तक की छुट्टी न मिली कि घर आकर पेट में कुछ डाल जाते। कचहरी की तरफ से थोड़े-से चने खाने को मिल गए थे। बीच-बीच में मेह में भी भीगे हैं। हक की मजूरी भी मिल जाती सो भी नहीं,

बल्कि उसके बदले जो उन्हें गालियां श्रौर फटकार मिली है वह उनकी मजूरी से बहुत ज़्यादा थी।

कीच-कद्दड़ श्रौर पानी में होकर बड़ी मुश्किल से दोनों भाई शाम को घर श्राए। देखा तो, छोटी बहू चन्दा ज़मीन पर श्रांचल बिछाए चुपचाप श्रौंधी पड़ी है। श्राज के बदली के दिन की तरह उसने भी दुपहर को बहुत श्रांसू बरसाकर शाम होते-होते खामोश होकर श्रपने श्रन्दर ज़ोरों की उमस कर रखी है। श्रौर बड़ी बहू राधा मुंह फुलाए दरवाज़े पर बैठी थी। उसका डेढ़ बरस का छोटा बच्चा रो रहा था। श्रब, दोनों भाइयों ने जब घर में पैर रखा तो देखा कि बच्चा नंग-धड़ंग श्रांगन में एक तरफ चित पड़ा सो रहा है।

भूखे दुक्खी ने श्राते के साथ ही कहा, "चल उठ, परोस खाने को।"

बड़ी बहू एकसाथ गरज उठी, मानो बारूद के बोरे में चिनगारी पड़ गई हो, "खाने को है कहां, जो परोस दूं? चावल तू दे गया था? मैं क्या श्राप कहीं जाकर रोज़गार कर लाती!"

सारे दिन की थकावट श्रौर डाट-फटकार सहने के बाद श्रन्नहीन निरानन्द श्रंधेरे घर में जलती हुई क्षुधाग्नि पर स्त्री के रूखे वचन खासकर श्रन्तिम वाक्य का छिपा हुश्रा कुत्सित श्लेष दुक्खी को सहसा न जाने कैसे श्रत्यन्त श्रसह्य हो उठा। क्रोधित व्याघ्र की तरह वह रुद्ध-गम्भीर गर्जन के साथ बोला, "क्या कहा!" श्रौर उसी दम उसने हंसिया उठाकर स्त्री के सिर पर जमा दिया।

राधा श्रपनी देवरानी के पास जाकर गिर पड़ी; श्रौर पड़ते के साथ ही मर गई।

चन्दा के कपड़े खून से तराबोर हो गए। वह 'हाय श्रम्मा, क्या हो गया' कहकर चिल्ला उठी। छदामी ने श्राकर उसका मुंह दबा दिया। दुक्खी हंसिया फेंककर गाल पर हाथ रख के भौचक्के की तरह ज़मीन पर बैठ गया। लड़का जग गया श्रौर डर के मारे चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा।

बाहर तब पूरी शान्ति थी। श्रहीरों के लड़के गाय-भैंस चराकर गांव को लौट रहे थे। उस पार की रेती पर जो लोग पक्के धान काटने गए थे, उनमें से पांच-पांच सात-सात जने एक-एक छोटी नाव पर बैठ-कर, इस पार श्राकर दिन-भर की मेहनत-मजूरी में मिले दो-चार पूला धान सिर पर लादे, लगभग सभी कोई श्रपने-श्रपने घर श्रा पहुंचे हैं।

गांव के रामलोचन चचा डाकखाने में चिट्ठी डालकर घर लौट आए थे, और निश्चिन्त होकर चुपचाप बैठे तमाकू पी रहे थे। एकाएक उन्हें याद उठ आई—उनके शिकमी काश्तकार दुक्खी पर लगान के रुपये बाकी हैं। आज के दिन वह देने का वादा कर गया था। यह सोचकर कि अब वह घर आ गया होगा, रामलोचन कंधे पर दुपट्टा डाल, उठा छतरी चल दिए।

दुक्खी-छदामी के घर में घुसते ही उनके रोंगटे खड़े गए। देखा तो, घर में दीया तक नहीं जल रहा है। आंगन में अंधेरा है, और उस अंधेरे में दो-चार काली मूर्तियां अस्पष्ट दिखाई दे रही हैं। रह-रहकर बरामदे के एक कोने से रोने का अस्फुट शब्द सुनाई दे रहा है, और लड़का ज्यों-ज्यों 'अम्मा, अम्मा' पुकारता हुआ रोने की कोशिश कर रहा है त्यों-त्यों छदामी उसका मुंह दबाता जा रहा है। रामलोचन ने कुछ डरते हुए पूछा, "दुक्खी है क्या ?"

दुक्खी अब तक पत्थर की मूर्ति की तरह चुपचाप बैठा था। उसका नाम लेकर पुकारते ही वह सिसक-सिसक के नासमझ बच्चे की तरह रोने लगा। छदामी झटपट बरामदे से उतरकर रामलोचन चाचा के पास आंगन में आ गया। रामलोचन ने पूछा, "औरतें लड़ाई करके मुंह फुलाए पड़ी होंगी, इसीसे अंधेरा है क्या ? आज तो दिन-भर चिल्लाती ही रही हैं ?"

छदामी अभी तक, क्या करना चाहिए, कुछ भी सोच नहीं पाया था। तरह-तरह की असम्भव कल्पनाए उसके दिमाग में चक्कर काट रही थीं। फिलहाल उसने यही तय किया था कि कुछ रात बीते लाश को कहीं गायब कर देगा। इसी बीच में चौधरी चचा आ पहुंचे, जिसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। चट से कोई ठीक जवाब न सूझा, वह कह बैठा, "हां, आज बहुत झगड़ा हो गया।"

चौधरीजी बरामदे की ओर बढ़ते हुए बोले, "लेकिन उसके लिए दुक्खी क्यों रो रहा है ?"

छदामी ने देखा कि अब खैर नहीं, एकाएक वह कह बैठा, "तकरार करते-करते छोटी बहू ने बड़ी बहू के माथे पर हंसिया मार दिया है।"

मनुष्य आई हुई विपत्ति को ही बड़ा समझता है, उसके अलावा और भी कोई आपत्ति आ सकती है—यह बात जल्दी उसके दिमाग में नहीं आती। छदामी उस समय सोच रहा था कि इस खतरनाक सत्य

के पंजे से कैसे बचे ? किन्तु झूठ उससे बढ़कर खतरा ला सकता है—इस बात का उसे होश ही न था। रामलोचन के पूछते ही चट से उसके दिमाग में एक जवाब सूझा, और उसी वक्त उसने उसे कह डाला।

रामलोचन चौंककर कह उठा, "ऐं ! क्या कहा ! मरी तो नहीं ?"

छदामी ने कहा, "मर गई।" और तुरन्त उनके पांव पर गिर पड़ा।

चौधरी बड़े असमंजस में पड़ गए, सोचने लगे, 'राम, राम, ऐन संध्या के समय कहां आ फंसे ! अदालत में गवाही देते-देते जान निकल जाएगी।'

छदामी ने किसी भी तरह उनके पांव नहीं छोड़े, बोला, "चौधरी चचा, अब मैं अपनी बहू को बचाने के लिए क्या करूं ?"

मामला-मुकदमों के बारे में सलाह देने में रामलोचन गांव-भर के मुख्य मंत्री थे। उन्होंने ज़रा सोचकर कहा, "देख, एक काम कर तू, अभी दौड़ा जा थाने में, कहना कि 'मेरे बड़े भाई दुक्खी ने शाम को घर आकर खाने को मांगा था, खाना तैयार नहीं था, सो उसने अपनी बहू के माथे में हंसिया मार दिया है।' मैं ठीक कहता हूं, ऐसा कहने से तेरी बहू बच जाएगी।"

छदामी का कण्ठ सूखने लगा, उठकर बोला, "चौधरी चचा, बहू तो और भी मिल जाएगी, पर भाई को फांसी हो जाने पर फिर भाई नहीं मिलने का।" किन्तु जब उसने अपनी स्त्री पर दोषारोपण किया था तब ये बातें नहीं सोची थीं। घबराहट में एक बात मुंह से निकल गई, अब अलक्षित भाव से उसका मन अपने लिए युक्तियां और तसल्ली इकट्ठा करने लगा।

चचा ने भी उसकी बात को युक्तिसंगत माना, बोले, "तो फिर जैसा हुआ है वैसा ही कहना। सब तरफ से बचाव होना तो मुश्किल बात है।" इतना कहकर रामलोचन वहां से चल दिए। और देखते-देखते सारे गांव में हल्ला हो गया कि 'कोरियों के घर की चन्दा ने लड़ते-लड़ते गुस्से में आकर अपनी जिठानी जी के माथे में हंसिया दे मारा है।'

बांध टूटने पर जैसे बाढ़ आती है वैसे ही गांव में पुलिस आ धमकी। अपराध और निरपराध सभी कोई बहुत घबरा उठे।

छदामी ने सोचा कि जो रास्ता बना लिया है उसीपर चलना ठीक होगा। उसने रामलोचन के सामने अपने मुंह से जो बात कह डाली है उस बात को गांव के सब लोग जान गए हैं। अब अगर दूसरी कोई बात कही जाए तो न जाने उसका क्या नतीजा निकले, क्या से क्या हो जाए! उसकी अकल चकरा गई। उसने समझ लिया कि किसी तरह अपने वचनों की रक्षा करते हुए उसमें और भी दो-चार बातें जोड़-जाड़कर बहू को भले ही बचाया जा सकता है, और कोई रास्ता नहीं।

छदामी ने अपनी बहू चन्दा से अनुरोध किया कि वह कसूर अपने ऊपर ले ले। सुनते ही उसपर मानो बिजली-सी पड़ गई। छदामी ने उसे तसल्ली देकर कहा, "मैं जो कह रहा हूं उसमें तुझे किसी बात का डर नहीं, हम लोग तुझे बचा लेंगे।" तसल्ली दी तो सही, पर उसका कण्ठ सूख गया, मुंह फक पड़ गया।

चन्दा की उमर सत्रह-अठारह साल से ज़्यादा न होगी। चेहरा भरा हुआ और गोलमटोल, शरीर मंझोला, कसा हुआ, स्वस्थ और सबल, और अंग-प्रत्यंग के गठन में ऐसा एक सौष्ठव भरा हुआ है कि चलने-फिरने में, हिलने-डुलने में देह कहीं से भी ज़रा बेडौल नहीं मालूम देती। वह नई बनी हुई नाव की तरह छोटी और सुडौल है, बहुत ही आसानी से सरकती है और उसकी कहीं भी कोई ग्रन्थि शिथिल नहीं हुई। संसार के विषय में उसके अन्दर एक तरह का कुतूहल है, मुहल्ले में दूसरों के घर जाकर गपशप करना उसे बहुत पसन्द है, और कांख में पानी की गागर लिए पनघट आते समय वह दो उंगलियों से घूंघट में ज़रा-सा छेद करके चमकीली चंचल काली आंखों से रास्ते में जो कुछ देखने लायक चीज़ होती है उसे देख लिया करती है।

बड़ी बहू ठीक इससे उलटी थी। बहुत ही आलसिन, फूहड़ और बेशऊर। सिर का कपड़ा, गोद का लड़का, घर का काम कुछ भी उससे न सम्हलता था। हाथ में न तो कोई खास काम-काज होता और न फ़ुरसत। छोटी बहू उससे ज़्यादा कुछ कहती-सुनती न थी। हां, मीठे स्वर में दो-एक पैने दांत गड़ा देती, और वह हाय-हाय करके गुस्से में बकती रहती, और इस तरह मुहल्ले-भर की नाक में दम करती रहती।

इन दो दम्पतियों में भी स्वभाव की एक आश्चर्यजनक एकता थी। दुक्खी देह में कुछ लम्बा-चौड़ा हट्टा-कट्टा है, चौड़ी हंड़िया-सी

भद्दी नाक, आंखें ऐसी कि मानो इस दुनिया को वे अच्छी तरह समझती ही नहीं, और न उससे किसी तरह का सवाल ही करना चाहती हैं। ऐसा भोला-भाला किन्तु खतरनाक, ऐसा सबल किन्तु निरीह आदमी बिरला ही मिलेगा।

और छदामी तो ऐसा लगता है जैसे किसी चमकीले काले पत्थर को बड़ी मेहनत से कोंदकर मूर्ति बनाई गई हो। ज़रा भी कहीं बाहुल्य नहीं, कहीं भी ज़रा दचका तक नहीं पड़ा। बल और निपुणता ने मिलकर उसके प्रत्येक अंग को भरा-पूरा बना दिया है। चाहे तो नदी की ऊंची पाड़ पर से नीचे कूद पड़े, चाहे लग्गी चलावे, चाहे बांस की झाड़ियों में चढ़कर छांट-छांटकर उसकी टहनियां काट लावे ; हरएक काम में उसकी पूरी होशियारी पाई जाती है, मानो सभी काम उसके लिए बहुत आसान हैं। बड़े-बड़े काले बालों में तेल डालकर और बड़े यत्न से उन्हें काटकर कन्धे तक लटकाए रहता है, देह की सजावट के विषय में उसका काफी ध्यान है।

और-और ग्राम्य-वधुओं के सौन्दर्य के प्रति यद्यपि उसकी उदासीन दृष्टि न थी, और अपने को उनकी निगाहों में मनोरम जंचाने की इच्छा भी उसकी काफी थी, फिर भी अपनी युवती स्त्री को वह ज़रा कुछ ज़्यादा प्यार करता था। दोनों में कलह भी होती और मेल भी। कोई किसीको हरा नहीं सकता था। और भी एक कारण था जिससे दोनों का बन्धन काफी मज़बूत था। छदामी समझता था कि चन्दा जैसी चंचल प्रकृति की चंडूल स्त्री है, उसपर बहुत ज़्यादा भरोसा नहीं करना चाहिए, और चन्दा समझती थी कि उसके मालिक की चारों तरफ निगाह दौड़ती रहती है, उसे अगर कुछ कसके न बांधा गया तो किसी दिन हाथ से निकल जाने का डर है।

इस दुर्घटना के कई दिन पहले से पति-पत्नी में बड़ी भारी तना-तनी चल रही थी। बात यह थी कि चन्दा ने देखा, उसका मालिक काम के बहाने कभी-कभी दूर चला जाता है, यहां तक कि दो-एक दिन बाहर बिताकर फिर घर लौटता है, और कुछ पैदा करके लाता नहीं। पति के लक्षण अच्छे न देखे तो वह भी कुछ ज़्यादती करने लगी। उसने जब है तब पनघट जाना शुरू कर दिया और मुहल्ले-भर में घूम-फिर-कर घर आकर काशीप्रसाद के मझले लड़के की बहुत ज़्यादा व्याख्या करने लगी।

छदामी के दिन और रातों में मानो किसीने ज़हर घोल दिया। काम-धन्धे में कहीं भी उसे घड़ी-भर के लिए चैन न पड़ता। इसके लिए एक दिन उसने भौजाई को बड़ी डाट-फटकार बताई।

जवाब में भौजाई ने हाथ हिला-हिलाकर झमक-झमककर उसके अनुपस्थित मृत पिता को सम्बोधित करके कहा, "वह औरत आंधी के आगे दौड़ती है, उसे मैं सम्हालूं! मैं तो जानती हूं, किसी दिन वो खानदान की नाक कटा बैठेगी!"

बगल की कोठरी में चन्दा बैठी थी, उसने बाहर आकर धीरे से कहा "जीजी, तुम्हें इतना डर क्यों है?"

बस, फिर क्या था, दोनों में खूब ठन गई।

छदामी ने आंखें घुन्नाकर कहा, "देख, अब की अगर सुना कि तू अकेली पानी भरने गई है, तो तेरी हड्डी तोड़ दूंगा।"

चन्दा ने कहा, "तब तो मेरा कलेजा ही ठण्डा हो जाए!" यह कहती हुई वह उसी वक्त बाहर जाने को तैयार हो गई।

छदामी ने लपककर चोटी पकड़ के घसीटकर उसे कोठरी के भीतर ढकेल दिया और बाहर से दरवाज़ा बन्द कर दिया।

शाम को छदामी जब घर लौटा तो देखा कि कोठरी खुली पड़ी है, उसमें कोई भी नहीं! चन्दा तीन गांव पार करके सीधी अपनी ननसाल पहुंच गई थी।

छदामी बड़ी मुश्किल से मना-मुनूकर वहां से उसे घर ले आया, और अबकी बार उसने अपनी हार मान ली। उसने देख लिया कि जैसे अंजुली-भर पारे को मुट्ठी के अन्दर ज़ोर से दबाकर रखना दुःसाध्य है वैसे ही इस स्त्री को भी मजबूती से पकड़ रखना असम्भव है, पारे की तरह यह भी दसों उंगलियों की संधों में से इधर-उधर छिटक पड़ती है।

उसने किसी तरह की ज़बरदस्ती नहीं की; किन्तु वह बड़ी अशान्ति में रहने लगा। इस चंचल युवती स्त्री के प्रति उसका सदा शंकित प्रेम उग्र वेदना की तरह उसको दुःख देने लगा। यहां तक कि कभी-कभी वह सोचता कि यह मर जाए तो निश्चिन्त होकर वह ज़रा शान्ति से रहे। आदमी से आदमी की जितनी ईर्ष्या होती है उतनी शायद यमराज से नहीं होती।

इसी बीच यह दुर्घटना हो गई।

चन्दा से जब उसके मालिक ने हत्या मंजूर कर लेने के लिए कहा, तो वह भौंचक्की होकर देखती रह गई। उसकी काली-काली दोनों आंखें काली आग की तरह चुपचाप अपने पति को दग्ध करने लगीं। उसका सारा शरीर और मन क्रमशः मानो संकुचित होकर पति-राक्षस के पंजे से निकल भागने की कोशिश करने लगा। उसकी अन्तरात्मा विमुख होकर पति के खिलाफ विद्रोह ठान बैठी।

छदामी ने बहुत तसल्ली दी कि तेरे डरने की कोई बात नहीं। इसके बाद उसने 'थाने में और अदालत में मजिस्ट्रेट के सामने उसे क्या कहना होगा' बार-बार सिखा-पढ़ाकर सब ठीक कर दिया। मगर चन्दा ने उसकी लम्बी-लम्बी बातें कुछ भी नहीं सुनीं, पत्थर की मूर्ति की तरह चुपचाप बैठी रही।

सभी कामों में दुक्खी छदामी के भरोसे रहता है। छदामी ने जब उससे चन्दा पर सारा दोष मढ़ने की बात कही, तो उसने कहा, "फिर बहू का क्या होगा?"

छदामी ने कहा, "उसे मैं बचा लूंगा।"

भाई की बात सुनकर हट्टा-कट्टा दुक्खी निश्चिन्त हो गया।

छदामी ने अपनी बहू को सिखा दिया था कि तू कहना, "जिठानी मुझे हंसिया लेकर मारने आई थी, सो मैं भी उसे हंसिया उठाकर रोकने लगी, सो न जाने कैसे अचानक लग गई।" ये सब बातें रामलोचन की बनाई हुई थीं। इसके अनुकूल जिन-जिन वर्णनों और प्रमाणों की ज़रूरत थी वे सब बातें भी उन्होंने विस्तार के साथ छदामी को समझा दी थीं।

पुलिस आकर जोरों से तहकीकात करने लगी। लगभग सभी गांववालों के मन में यह बात तह तक बैठ गई थी कि चन्दा ने ही जिठानी की हत्या की है। और प्रायः सभी गांववालों के बयानों से ऐसा ही साबित हुआ।

पुलिस की तरफ से चन्दा से जब पूछा गया, तो चन्दा ने कहा, "हां, मैंने ही खून किया है।"

"क्यों खून किया?"

"मुझे वह सुहाती नहीं थी।"

"कोई झगड़ा हुआ था?"

"नहीं।"

"वह तुम्हें पहले मारने आई थी?"

"नहीं।"

"तुमपर किसी तरह का जुल्म किया था?"

"नहीं।"

इस तरह का जवाब सुनकर सब दंग रह गए।

छदामी एकदम घबरा गया, बोला, "यह ठीक नहीं कह रही है। पहले बड़ी बहू..."

दारोगा ने बड़े जोर से डांटकर उसे चुप कर दिया। अन्त तक बार-बार नियमानुसार जिरह करने पर भी, वही एक ही तरह का जवाब मिला। बड़ी बहू की तरफ से किसी तरह का हमला होना चन्दा ने किसी भी तरह मंजूर नहीं किया तो नहीं ही किया।

ऐसी अपनी ज़िद की पक्की औरत शायद ही कहीं देखने में आती हो। एक रुख से जी-जान से कोशिश करके फांसी के तख्ते की तरफ झुकी जा रही है, किसी भी तरह रोके नहीं रुकती! यह कैसा खतरनाक रूठना है! चन्दा शायद मन ही मन कह रही थी कि 'मैं तुम्हें छोड़कर अपने इस नवयौवन को लेकर फांसी के तख्ते पर चढ़ जाऊंगी, फांसी की रस्सी को गले लगाऊंगी,—मेरे इस जन्म का आखिरी बन्धन उसीके साथ है।'

वन्दिनी होकर चन्दा, एक भोली-भाली छोटी-सी चंचल कौतूहल-प्रिय ग्राम्य-वधू, चिरपरिचित गांव के रास्ते से, जगन्नाथ के मन्दिर के सामने से, बीच बाज़ार से, घाट के किनारे से, मजुमदारों के घर के सामने से, डाकखाना और स्कूल के बगल से, सभी परिचित लोगों की आंखों के सामने से, कलंक की छाप लिए हमेशा के लिए घर छोड़कर चली गई। लड़कों का एक झुंड पीछे-पीछे चला जा रहा था, और गांव की औरतें, उसकी सखी-सहेलियां, कोई घूंघट की संध में से, कोई दरवाज़े की बगल से और कोई पेड़ की ओट में खड़ी होकर सिपाहियों से घिरी चन्दा को जाती देख लज्जा से, घृणा से, डर से रोमांचित हो उठीं।

डिप्टी मजिस्ट्रेट के सामने भी चन्दा ने अपना ही कसूर कबूल किया। और 'दुर्घटना से पहले बड़ी बहू ने उसपर किसी तरह की ज़्यादती या जुल्म किया था' यह बात उसके मुंह से किसी भी तरह

निकली ही नहीं।

पर छदामी उस दिन गवाही के कठघरे में पहुंचते ही रो दिया, और हाथ जोड़कर बोला, "दुहाई है, हजूर, मेरी बहू का कोई कसूर नहीं।"

हाकिम ने धमकाकर उसके उच्छ्वास को रोककर उससे सवाल करना शुरू कर दिया। उसने एक-एक करके सारा का सारा कच्चा चिट्ठा कह सुनाया।

किन्तु हाकिम ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। कारण, मुख्य विश्वस्त और शरीफ गवाह रामलोचन ने कहा, "खून होने के थोड़ी देर बाद मैं घटनास्थल पर पहुंचा था। गवाह छदामी ने मेरे सामने सब कबूल करके मेरे पैरों पर गिरकर कहा था कि 'बहू को किस तरह बचाऊं, कोई रास्ता बताइए।' मैंने भला-बुरा कुछ भी नहीं कहा। गवाह ने मुझसे पूछा कि 'मैं अगर कहूं कि मेरे बड़े भाई ने खाने को मांगा था सो उसने दिया नहीं, इसपर गुस्से में आकर भाई ने स्त्री को मार डाला, तो यह बच जाएगी?' मैंने कहा, "खबरदार, हरामज़ादे, अदालत में एक हरूफ भी झूठ न बोलना, इससे बढ़कर महापाप और नहीं है।' " इत्यादि-इत्यादि।

रामलोचन ने पहले चन्दा को बचाने के लिए बहुत-सी बातें गढ़ डाली थीं, किन्तु जब देखा कि चन्दा खुद ही अड़कर फंस रही है, तब सोचा कि 'अरे बाप रे, अन्त में कहीं मुझे ही झूठी गवाही के ज़ुल्म में न पड़ना पड़े! इससे जितना जानता हूं उतना ही कहना अच्छा।' यह सोचकर उन्होंने उतना ही कहा, बल्कि उससे भी कुछ ज़्यादा कहने में कसर न रखी।

डिप्टी मजिस्ट्रेट ने मामला सेशन सुपुर्द कर दिया।

इस बीच में खेती-बारी, हाट-बाज़ार, रोना-हंसना आदि संसार के सभी काम चलने लगे। पहले की तरह फिर हरे धान के खेतों में सावन की वर्षाधारा झरने लगी।

पुलिस मुलज़िम और गवाहों को लेकर सेशन जज की अदालत में हाज़िर हुई। इजलास में बहुत-से लोग अपने-अपने मुक़दमे की पेशी की इन्तज़ारी में बैठे हैं। रसोईघर के पीछे की एक छोटी-सी गन्दी तलैया के कुछ हिस्से को लेकर एम मामला चल रहा है, जिसकी पैरवी के लिए कलकत्ता से वकील बुलाए गए हैं, और फरियादी की तरफ से

उनतालीस गवाह हाज़िर हुए हैं। सब अपने-अपने हक-हिसाब का कौड़ी-कौड़ी रत्ती-रत्ती बाल की खाल निकालनेवाला फैसला कराने के लिए व्याकुल होकर दौड़े आए हैं—उनकी धारणा है, फिलहाल उनके लिए इससे बढ़कर संसार में और कोई जरूरी काम नहीं है।

छदामी खिड़की में से रोजमर्रा की इस अत्यन्त आकुल-व्याकुल दुनिया की तरफ एकटक देख रहा है, सब कुछ उसे सपना-सा मालूम होता है। अदालत के अहाते के भीतर के वटवृक्ष पर से एक कोयल बोल रही है, उनके यहां किसी तरह का आईन-कानून और अदालत नहीं है।

चन्दा ने जज के सामने झुंझलाकर कहा, "अरे हज़ूर साहब, अब एक ही बात को बार-बार कितनी बार बताऊं ?"

जज ने उसे समझाकर कहा, "तुम जिस कसूर को मंज़ूर कर रही हो उसकी सज़ा क्या है, जानती हो ?"

चन्दा ने कहा, "नहीं।"

जज ने कहा, "उसकी सजा है फांसी, मौत !"

चन्दा ने कहा, "हजूर साहब, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूं, मुझे तुम वही सजा दे दो, अब मुझसे सहा नहीं जाता।"

जब छदामी को अदालत में पेश किया गया, तो चन्दा ने उसकी तरफ से मुंह फेर लिया।

जज ने कहा, "सुनो, इधर गवाह की तरफ देखकर बताओ, यह तुम्हारा कौन लगता है ?"

चन्दा ने दोनों हाथों से अपना मुंह ढककर कहा, "यह मेरा मालिक लगता है।"

जज ने पूछा, "तुम्हें यह चाहता है ?"

चन्दा ने जवाब दिया, "उफ् ! बहुत ज़्यादा चाहता है कि !"

जज ने पूछा, "तुम इसे नहीं चाहतीं ?"

चन्दा ने जवाब दिया, "बहुत ज़्यादा चाहती हूं कि !"

छदामी से जब पूछा गया, तो उसने कहा, मैंने खून किया है।"

जज ने पूछा, "क्यों ?"

छदामी ने कहा, "खाने को मांगा था, सो उसने दिया नहीं।"

दुक्खी गवाही देने आया तो वह मूछित हो गया। होश आने पर उसने जवाब दिया, "हज़ूर साहब, खून मैंने किया है।"

"क्यों ?"

"खाने को मांगा था, सो उसने दिया नहीं था।"

बहुत जिरह करके तथा और-और गवाहों का बयान सुनकर जज साहब ने साफ-साफ समझ लिया कि घर की बहू को फांसी की बेइज़्ज़ती से बचाने के लिए ही दोनों भाई कसूर मंजूर कर रहे हैं।

किन्तु चन्दा थाने से लेकर सेशन-अदालत तक बराबर एक ही बात कहती आ रही है, उसकी बात में ज़रा भी कहीं फर्क नहीं पड़ा।

दो वकीलों ने स्वतःप्रवृत्त होकर उसे फांसी से बचाने के लिए बहुत कुछ कोशिश की, लेकिन अन्त में उन्हें हार माननी पड़ी।

जिस दिन ज़रा-सी उमर में एक काली-काली छोटी-मोटी लड़की अपना गोलमटोल मुंह लिए, गुड्डा-गुड़िया फेंककर, अपना बाप-महतारी का घर छोड़कर ससुराल आई थी उस दिन रात को शुभ-लग्न के समय आज के इस दिन की भला कौन कल्पना कर सकता था? उसका बाप मरते समय यह कहकर निश्चिन्त हुआ था कि 'खैर, कुछ भी हो, मेरी लड़की तो ठीक-ठिकाने से लग गई।'

जेलखाने में फांसी के पहले मेहरबान सिविलसर्जन साहब ने चन्दा से पूछा, "किसीको देखने की मन में है ?"

चन्दा ने कहा, "एक बार अपनी मां को देखना चाहती हूं।"

डाक्टर ने कहा, "तुम्हारा मालिक तुम्हें देखना चाहता है, उसे बुलवा लिया जाए ?"

चन्दा बोली, "हुंःह, मौत भी न आई ?"

[मूल रचना : श्रावण, १६५०]

महामाया

महामाया और राजीवलोचन दोनों नदी के किनारे एक पुराने खंडहर मन्दिर में जाकर मिले।

महामाया ने मुंह से कोई बात न कहकर अपनी स्वाभाविक गम्भीर दृष्टि से ज़रा कुछ तिरस्कार के साथ राजीव की ओर देखा। उसका मतलब यह था कि 'तुम किस बिरते पर आज बेवक्त मुझे यहां बुला लाए हो? मैं अब तक तुम्हारी सभी बातें मानती आई हूं, इसीसे तुम्हारी इतनी हिम्मत बढ़ गई!'

राजीवलोचन वैसे ही महामाया से बराबर डरता रहता है, उसपर यह चितवन! बेचारा डर गया। सम्हलकर कुछ बात करना चाहता था, पर उसकी आशा पर उसी क्षण पानी फिर गया। और अब इस मिलन का जल्दी से कोई न कोई कारण बिना बताए भी उसे छुटकारा नहीं मिलता दीखता। इससे वह जल्दी में कह बैठा, "मैं चाहता हूं कि यहां से कहीं भाग चलें, और वहां जाकर दोनों ब्याह कर लें।" राजीव जिस बात को कहना चाहता था, बात तो उसने ठीक वही कही; किन्तु जो भूमिका वह सोचकर लाया था वह न जाने कहां गुम होगई! उसकी बात बिलकुल नीरस और निरलंकार हुई, यहां तक कि सुनने में भी भद्दी और अजीब-सी लगी। वह खुद ही सुनकर भौचक्का-सा रह गया। और भी दो-चार बात जोड़कर उसे ज़रा नरम बना देने की ताकत उसमें न रही। खंडहर मन्दिर में नदी के किनारे इस जलती हुई दुपहरी में महामाया को बुलाकर उस बेवकूफ ने सिर्फ इतना ही कहा, "चलो, हम दोनों कहीं चलकर ब्याह कर लें!"

महामाया कुलीनों के घर की कुमारी लड़की है। उमर है चालीस साल की। जैसी पूरी उमर है वैसी ही सुन्दरता। शरतऋतु की धूप के समान पक्के सोने के रंग की प्रतिमा-सी लगती है, उस धूप जैसी ही दीप्त और नीरव; और उसकी दृष्टि है दिव्य लोक जैसी उन्मुक्त और निर्भीक।

उसके बाप नहीं हैं, सिर्फ बड़ा भाई है। उसका नाम है भवानी-चरण। भाई-बहन की प्रकृति लगभग एक-सी है। मुंह से बोलते कुछ नहीं, पर तेज ऐसा है कि दुपहर के सूरज की तरह चुपके से जला सब कुछ देते हैं। खासकर भवानीचरण से लोग बिना कारण डरा करते हैं।

राजीव परदेशी है। यहां की रेशम की कोठी का बड़ा साहब उसे अपने साथ ले आया था। राजीव के बाप इसी साहब की कोठी में काम करते थे। पिता की मृत्यु होने पर साहब ने उनके नाबालिग लड़के के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया; और बचपन में ही उसे

वह अपनी इस बामनहाटी की कोठी में ले आया। लड़के के साथ सिर्फ उसकी एक स्नेहशीला बुआ थी। राजीव अपनी उस बुआ के साथ भवानीचरण के पड़ोस में रहा करता था। महामाया राजीव की बाल्य-संगिनी थी, और राजीव की बुआ के साथ उसका सुदृढ़ स्नेह-बन्धन था।

राजीव की उमर क्रमशः सोलह, सत्रह और अठारह, यहां तक कि उन्नीस वर्ष की हो गई, फिर भी, बुआ के अनुरोध करने पर भी, वह ब्याह नहीं करना चाहता। साहब उसकी सुबुद्धि का परिचय पाकर बहुत ही खुश हुआ। उसने सोचा कि लड़के ने उन्हींको अपना आदर्श बना लिया है। साहब ने शादी नहीं की थी।

इस बीच में बुआ भी मर गई।

इधर, बूते से ज़्यादा खर्च किए बिना महामाया के लिए अनुरूप कुलीन पात्र मिलना मुश्किल हो रहा था; और उसकी कुमारी अवस्था क्रमशः बढ़ती जा रही थी।

पाठकों को यह बताने की ज़रूरत नहीं कि परिणय-बन्धन में बांधना जिन देवता का कार्य है वे यद्यपि इन दोनों के प्रति अब तक बराबर लापरवाही दिखा रहे थे, किन्तु प्रणय-बन्धन का भार जिसपर है उसने अब तक अपना समय बिलकुल नष्ट नहीं किया। वृद्ध प्रजापति जिस समय झोंके ले रहे थे युवक कन्दर्प उस समय पूरा सावधान था।

कामदेव का प्रभाव भिन्न-भिन्न लोगों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से पड़ा करता है। उनके प्रभाव में आकर राजीव अपने मन की दो बातें कहने के लिए कोई मौका ढूंढ़ रहा था, किन्तु महामाया उसे मौका ही नहीं देती थी। असल में, उसकी निस्तब्ध गम्भीर दृष्टि राजीव के व्याकुल हृदय में एक तरह का डर पैदा कर देती थी।

आज, सैकड़ों बार कसम खाने के बाद राजीव उसे इस खण्डहर मन्दिर में ला सका। इसीसे उसने सोचा कि जो कुछ उसे कहना है, आज सब कुछ कह-सुन लेगा; उसके बाद, या तो ज़िन्दगी-भर सुख से रहेगा, और नहीं तो प्राण त्याग देगा। जीवन के ऐसे एक संकट के दिन में राजीव ने सिर्फ इतना ही कहा, "चलो, ब्याह ही कर लें!" और उसके बाद पाठ भूले हुए विद्यार्थी की तरह सकपकाकर चुप रह गया।

महामाया को मानो यह आशा ही न थी कि राजीव उससे ऐसा

प्रस्ताव कर बैठेगा। इससे देर तक वह चुप बनी रही।

दोपहरी की बहुत-सी अनिर्दिष्ट करुण-ध्वनियां होती हैं, वे इस सन्नाटे में फूट निकलीं। हवा से मन्दिर का आधा ही लगा हुआ टूटा दरवाज़ा बीच-बीच में बहुत ही क्षीण आर्त स्वर में धीरे-धीरे खुलने और बन्द होने लगा। कभी मन्दिर के झरोखे में बैठा हुआ कबूतर 'गुटुरगूं गुटुरगू' करता तो कभी बाहर सेमर के पेड़ पर बैठा हुआ कठफोड़ खुट-खुट करता, कभी सूखे पत्तों के ऊपर से सरसर करती हुई गिरगिट निकल जाती तो कभी सहसा मैदान की तरफ से हवा का एक जोर का झोंका आता और उससे तमाम पेड़ों के पत्ते झर-झर आर्तनाद कर उठते, बीच-बीच में सहसा नदी का पानी जाग उठता और टूटे घाट की सीढ़ियों पर छल-छल छपक-छपक चोट करने लगता। इन सब आकस्मिक अलस-उदास शब्दों के बीच बहुत दूरी पर, एक पेड़ के नीचे, किसी चरवाहे की बांस की बांसुरी में मैदानी तान भी बज रही है। राजीव को महामाया के मुंह की ओर देखने का साहस न हुआ। वह मन्दिर की भीत के सहारे सपने की सी हालत में चुपचाप खड़ा-खड़ा नदी के पानी की तरफ देखता रहा।

कुछ देर बाद मुंह फेरकर राजीव ने फिर एक बार भिखारी की तरह महामाया के मुंह की ओर देखा। महामाया ने सिर हिलाकर कहा, "नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"

महामाया का सिर ज्योंही हिला, राजीव की आशा भी उसी वक्त ज़मीन पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी। कारण, राजीव यह अच्छी तरह जानता था कि महामाया का सिर महामाया के अपने मतानुसार ही हिलता है; और किसीकी मजाल नहीं कि उसे अपने मत से विचलित कर सके। अपने कुल का ज़बरदस्त अभिमान-स्रोत महामाया के वंश में न जाने किस युग से बहता चला आ रहा है! भला आज वह राजीव जैसे अकुलीन ब्राह्मण के साथ ब्याह करने के लिए राज़ी हो सकती है! प्रेम होना और बात है, और ब्याह करना और बात। कुछ भी हो, महामाया समझ गई कि उसके अपने ही विचारहीन ढीले व्यवहार के कारण राजीव का दिमाग यहां तक चढ़ गया है। और उसी वक्त वह वहां से चली जाने को तैयार हो गई।

राजीव ने हालत देखकर जल्दी से कहा, "मैं कल ही यहां से चला जा रहा हूं।"

महामाया ने पहले तो सोचा कि अब उसे ऐसा भाव दिखाना चाहिए कि जाओ चाहे रहो, इससे उसे क्या मतलब! पर दिखा न सकी। पैर उठाना चाहा, पर उठा नहीं। उसने शान्त भाव से पूछा, "क्यों ?"

राजीव ने कहा, "हमारे साहब का यहां से सोनापुर को तबादला हो गया है—वे जा रहे हैं, मुझे भी साथ लेते जाएंगे।"

महामाया बहुत देर तक चुप रही। सोचने लगी, दोनों के जीवन की गति दो तरफ है; किसी आदमी को हमेशा के लिए नजरबन्द नहीं रखा जा सकता; इसलिए उसने चिपके हुए होंठों को ज़रा खोलकर कहा, "अच्छा।" उसकी यह 'अच्छा' कुछ-कुछ गहरी उसांस-सी सुनाई दी। और इतना ही कहके वह जाने को तैयार हुई।

इतने में राजीव चौंककर बोल उठा, "भवानी बाबू!"

महामाया ने देखा भवानीचरण मन्दिर की तरफ आ रहे हैं। समझ गई कि उन्हें सब पता लग गया है। राजीव ने महामाया पर विपत्ति आते देखकर मन्दिर की टूटी दीवार फलांगकर भागने की कोशिश की; किन्तु महामाया ने हाथ पकड़कर उसे रोक लिया। भवानीचरण मन्दिर के भीतर पहुंचे और सिर्फ एक बार चुपचाप दोनों की ओर स्थिर दृष्टि से देखा।

महामाया ने राजीव की ओर देखते हुए अविचलित कण्ठ से कहा, 'राजीव, मैं तुम्हारे घर ही आऊंगी। तुम मेरे लिए राह देखना।"

भवानीचरण चुपचाप मन्दिर से बाहर निकले। महामाया भी चुपचाप उनके पीछे हो ली। और राजीव हक्का-बक्का-सा होकर वहीं खड़ा रहा, मानो उसे फांसी का हुक्म सुनाया गया हो!

उसी दिन, रात को भवानीचरण ने एक कसूमी रंग की रेशमी साड़ी लाकर महामाया को दी; और कहा, "इसे पहन आओ।"

महामाया उसे पहन आई। उसके बाद बोले, "चलो, मेरे साथ चलो।"

आज तक, भवानीचरण की आज्ञा तो दूर रही, इशारे तक का भी किसीने उल्लंघन नहीं किया; महामाया ने भी नहीं।

उसी रात को दोनों नदी के किनारे श्मशान की ओर चल दिए। श्मशान घाट ज़्यादा दूर न था। वहां गंगा यात्री के घर में एक वृद्ध

ब्राह्मण मौत की घड़ियां गिन रहा था। उसकी खटिया के पास दोनों जाकर खड़े हो गए। घर के एक कोने में पुरोहित ब्राह्मण भी मौजूद था। भवानीचरण ने उससे इशारे में कुछ कहा। वह शीघ्र ही शुभानुष्ठान की तैयारियां करके पास आ खड़ा हुआ। महामाया समझ गई कि इस मौत के मेहमान के साथ उसका शुभ विवाह होगा। उसने रत्ती-भर भी विरोध नहीं किया। पास ही जलती हुई दो चिताओं के प्रकाश में उस अंधेरे-से घर में मृत्यु-यन्त्रणा की आर्त ध्वनि के साथ अस्पष्ट मन्त्रोच्चारण मिलाकर महामाया का विवाह कर दिया गया।

जिस दिन व्याह हुआ उसके दूसरे ही दिन महामाया विधवा हो गई। इस दुर्घटना से विधवा को रंचमात्र भी शोक नहीं हुआ। और राजीव भी अकस्मात् महामाया के व्याह की खबर पाकर जैसा वज्राहत हुआ था, वैधव्य-संवाद से वैसा न हुआ, बल्कि उसे कुछ प्रसन्नता ही हुई। किन्तु वह भाव ज्यादा देर तक न टिक सका। तुरन्त ही उसपर और एक संवाद की बिजली-सी टूट पड़ी, जिससे वह तत्काल ही पछाड़ खाकर गिर पड़ा। समाचार यह था कि श्मशान में आज बड़ी धूम है, महामाया सती हो रही है!'

पहले उसने सोचा कि साहब को खबर दे दे; और उसकी मदद से इस अमानुषिक अत्याचार को जबरन रोक दिया जाए। उसके बाद खयाल आया कि साहब तो सोनापुर रवाना हो चुका। राजीव को भी वह साथ ले जाना चाहता था, पर वह एक महीने की छुट्टी लेकर यहीं रह गया है।

महामाया ने उसे वचन दिया है, 'तुम मेरे लिए राह देखना।' उसकी वह किसी भी तरह उपेक्षा नहीं कर सकता। अभी तो उसने महीने-भर की ही छुटी ली है, आवश्यकता होने पर वह दो महीने, तीन महीने की छुट्टी लेगा और अन्त में साहब की नौकरी छोड़कर दर-दर भीख मांगकर गुजर करेगा, किन्तु वह फिर भी ज़िन्दगी-भर उसकी 'राह देखना' न छोड़ेगा।

शाम के वक्त राजीव पागल की तरह दौड़कर या तो आत्महत्या या ऐसा ही कोई भीषण कांड कर डालने की तैयारी कर रहा था। इतने में बड़े ज़ोर की आंधी आ गई और मूसलधार वर्षा होने लगी। ऐसी ज़ोर की आंधी चली कि राजीव को मालूम हुआ मानो अभी उसके सिर पर मकान ही टूट पड़ेगा। फिर जब उसने देखा कि उसके

अन्तःकरण के समान बाह्य प्रकृति में भी एक प्रलय-सा उठ खड़ा हुआ है तब उसे कुछ शान्ति-सी मिली। उसे ऐसा लगने लगा कि मानो स्वयं प्रकृति ने ही उसकी तरफ से एक तरह का प्रतिकार करना शुरू कर दिया है। वह खुद जितनी शक्ति का प्रयोग करना चाहता था किन्तु कर नहीं सकता था, स्वयं प्रकृति ही आकाश-पाताल एक करके, उससे कहीं ज़्यादा शक्ति का प्रयोग करके, उसका काम पूरा कर रही है।

इसी समय बाहर से किसीने दरवाजे पर ज़ोर से धक्का मारा। राजीव ने झटपट उठके किवाड़ खोल दिए। घर में भीगे कपड़े पहने हुए एक स्त्री ने प्रवेश किया। मुंह पर उसके लम्बा घूंघट खिचा हुआ था। राजीव ने उसी समय पहचान लिया, यह तो महामाया है। उसने आवेग-भरे कण्ठ से पूछा, "महामाया! तुम चिता से उठ आई हो?"

महामाया ने कहा, "हां, मैंने तुमसे वादा किया था कि मैं तुम्हारे घर आऊंगी। उसी प्रतिज्ञा को पालन करने आई हूं मैं। किन्तु, राजीव, मैं अब ठीक पहले की वो 'मैं' नहीं हूं, मेरा सब कुछ बदल गया है। सिर्फ मैं अपने मन में वही महामाया हूं। अब भी बोलो, अब भी मैं अपनी चिता में वापस जा सकती हूं, बोलो! और अगर तुम प्रतिज्ञा करो कि कभी भी तुम मेरा घूंघट न खोलोगे, मेरा मुंह न देखोगे, तो मैं जिन्दगी-भर तुम्हारे साथ रह सकती हूं।"

मृत्यु के हाथ से वापस मिल जाना ही बहुत है, उस समय और सब बातें तुच्छ मालूम देती हैं। राजीव ने जल्दी से कहा, "तुम जैसे चाहो वैसे रहना। मुझे छोड़ जाओगी तो मैं नहीं जी सकता।"

महामाया ने कहा, "तो अभी चलो। तुम्हारा साहब जहां गया है वहीं ले चलो मुझे।"

घर में जो कुछ था, सब छोड़-छाड़कर राजीव महामाया को लेकर उस आंधी-मेह में ही निकल पड़ा। ऐसी आंधी चल रही थी कि खड़ा होना कठिन था, आंधी के जोर से कंकड़ियां उड़-उड़कर बन्दूक के छर्रों की तरह देह में चुभने लगीं। दोनों के दोनों इस डर से कि कहीं सिर पर पेड़ न टूट पड़े, सड़क छोड़कर खुले मैदान में होकर चलने लगे। आंधी का जोर पीछे से धक्का देने लगा, मानो इन्हें वह लोकालय से छीनकर प्रलय की ओर उड़ाए लिए जा रही हो।

पाठक इस कहानी को कोरी कवि-कल्पना ही न समझें। जिन दिनों यहां सहमरण की प्रथा प्रचलित थी उस समय ऐसी घटनाएं कभी-कभी हो जाया करती थीं।

महामाया के हाथ-पैर बांधकर यथासमय चिता में रखके उसमें आग लगा दी गई थी। आग भी खूब ज़ोरों से जल उठी थी। लेकिन, उसी समय बड़े ज़ोर की आंधी आई और मूसलाधार पानी पड़ने लगा। जो दाह करने आए थे वे जल्दी से गंगायात्री वाली कोठरी में जा छुपे, और भीतर से किवाड़ बन्द कर लिए। सभी जानते हैं कि ऐसे आंधी-मेह में चिता बुझते देर नहीं लगती। इस बीच में उसके हाथों में बंधा हुआ कपड़ा जलकर भस्म हो गया और हाथ मुक्त हो गए। असह्य दाह-वेदना में मुंह से वह कुछ बोल न सकी, तुरत उठकर बैठ गई; और पैर की रस्सी खोल डाली। उसके बाद जगह-जगह जली हुई साड़ी से किसी तरह देह ढककर लगभग नंगी-सी चिता से उठकर पहले वह अपने घर गई। घर में कोई था नहीं। सब श्मशान में थे। दीया जलाकर एक धोती पहनकर महामाया ने एक बार दर्पण में अपना मुंह देखा, और देखते ही दर्पण ज़मीन से दे मारा। फिर कुछ देर खड़ी-खड़ी कुछ सोचती रही। उसके बाद मुंह पर लम्बा घूंघट खींचा और राजीव के घर चल दी। इसके बाद जो कुछ हुआ, सो पाठकों को मालूम ही है।

महामाया अब राजीव के पास ही रहती है, किन्तु राजीव के जीवन में सुख नहीं। ज़्यादा कुछ नहीं, दोनों के बीच सिर्फ एक घूंघट का व्यवधान है।

परन्तु वह घूंघट मृत्यु के समान चिरस्थायी है, और मृत्यु से भी बढ़कर वेदनादायक है। इसलिए कि निराशा मृत्यु की विच्छेद-वेदना को धीरे-धीरे अचेतन कर डालती है; किन्तु इस घूंघट के विच्छेद ने एक जीती-जागती आशा को प्रतिदिन-प्रतिक्षण पीड़ित और व्यथित कर रखा है।

एक तो वैसे ही महामाया की हमेशा से निस्तब्ध-नीरव प्रकृति है, उसपर उसके इस घूंघट के भीतर की निस्तब्धता पहले से दूनी असह्य मालूम होने लगी। राजीव अब ऐसे रहने लगा जैसे उसे मौत की एक चलती-फिरती पुतली ने घेर रखा हो। वह पुतली उसके जीवन को आलिंगन करके प्रतिदिन मानो उसे क्षीण से क्षीणतर किए दे रही हो।

राजीव पहले जिस महामाया को जानता था उसे तो उसने खो ही दिया। अब तो वह सिर्फ उसकी सुन्दर बाल्य-स्मृति को ही अपने जीवन का सहारा बनाकर जी सकता है, किन्तु उसमें भी यह घूंघटवाली पुतली हमेशा उसके आसपास रहकर भरसक बाधा पहुंचाती रहती है। वह सोचता है, 'आदमी आदमी में स्वभाव से ही काफी अन्तर है; और खासकर महामाया तो पुराण में वर्णित कर्ण की तरह ही स्वाभाविक कवचधारिणी है। वह अपने स्वभाव के चारों तरफ एक आवरण लेकर ही पैदा हुई है। उसके बाद, बीच में, फिर मानो वह और एक बार जन्म लेकर फिर और एक आवरण ले आई है।' रात-दिन पास रहती हुई भी वह इतनी दूर चली गई है कि मानो राजीव से उनके पास तक नहीं पहुंचा जाता, मानो वह केवल एक माया की लकीर के बाहर बैठकर अतृप्त तृषित हृदय से सूक्ष्म किन्तु अटल रहस्य को समझने की कोशिश कर रहा है, जैसे नक्षत्र प्रत्येक रात्रि में निद्राहीन निर्निमेष नत नेत्रों से अन्धकार रजनी का रहस्य जानने के निष्फल प्रयास में रात बिता दिया करते हैं। इस तरह, ये दोनों संगरहित साथी भिन्न-भिन्न प्राणी के रूप में बहुत दिनों तक एकसाथ बने रहे।

एक दिन, वर्षा ऋतु में, शुक्लपक्ष की दशमी की रात को बादल फटे और चांद दिखाई दिया। स्थिर चांदनी रात सोती हुई पृथ्वी के सिरहाने बैठी जागरण कर रही थी। उस रात को बिछौने से उठकर राजीव भी अपनी खिड़की के पास जा बैठा। वर्षा और ग्रीष्म के सगम से थके हुए बगीचे में से एक तरह की सुगन्ध और झिल्लियों की 'चि-ग् चिक्' आवाज़ कमरे में आकर उसके मनोराज्य मे एक तरह की अराजकता फैला रही थी। राजीव देख रहा था, बगीचे के अंधेरे में खड़े हुए पेड़ों के उस पार शान्त स्थिर सरोवर मंजे हुए चांदी के थाल-सा चमचमा रहा है। आदमी ऐसे समय में साफ-साफ कोई बात सोच सकता है या नहीं, बताना मुश्किल है। किन्तु हां, इतना कहा जा सकता है कि उसका सम्पूर्ण अन्तःकरण किसी एक दिशा में प्रवाहित हुआ करता है, उपवन की तरह एक गन्धोच्छ्वास छोड़ता रहता है। मालूम नहीं, राजीव ने क्या-क्या सोचा। उसे मालूम हुआ कि मानो आज उसके पहले के सब नियम टूट गए हैं। आज इस वर्षा की रात ने उसके सामने अपना बादल का घूंघट खोल दिया है। और आज की

यह रजनी पहले की उस महामाया के समान निस्तब्ध, सुन्दर और सुगम्भीर हो उठी है। होते-होते एकाएक ऐसा हुआ कि राजीव का सारा अस्तित्व ही उस महामाया की ओर दौड़ने लगा। स्वप्न-चालित की तरह उठकर राजीव ने महामाया के शयन-घर में प्रवेश किया। महामाया उस समय सो रही थी।

राजीव पास जाकर खड़ा हो गया। मुंह झुकाकर देखा, महामाया के खुले हुए मुंह पर चांदनी आ पड़ी है। किन्तु हाय, यह क्या! वह चिरपरिचित मुंह कहां गया! चितानल की शिखा अपनी निष्ठुर लहलहाती हुई रसना से महामाया के बायें कपोल का थोड़ा-सा सौन्दर्य चाटकर वहां हमेशा के लिए अपनी राक्षसी क्षुधा का निशान छोड़ गई है!

शायद राजीव चौंक पड़ा था। शायद एक अव्यक्त ध्वनि भी उसके मुंह से निकल पड़ी होगी। महामाया तुरत चौंककर जाग उठी। देखा कि सामने राजीव खड़ा है। उसी घड़ी वह घूंघट खींचकर, पलंग छोड़कर, एकदम उठ खड़ी हुई। राजीव समझ गया कि अब उसके सिर पर बिजली टूटना चाहती है। वह ज़मीन पर गिर पड़ा; और महामाया के पांव छूकर बोला, "मुझे माफ करो, महामाया, मुझे माफ करो।"

महामाया कुछ भी उत्तर न देकर, एक क्षण के लिए भी पीछे की ओर न मुड़कर, घर से बाहर निकल गई। राजीव के घर फिर वह कभी नहीं आई। फिर उसका कहीं भी पता न चला। उस क्षमाहीन चिर-प्रस्थान का क्रोधानल राजीव के सम्पूर्ण जीवन पर हमेशा के लिए एक सुदीर्घ दग्ध-चिह्न छोड़ गया।

[मूल रचना : फागुन, १९४९]

लेखक-जाति की प्रकृति के अनुसार ताराचन्द ज़रा कुछ संकोचशील और मुंहचोर आदमी थे। लोगों के सामने निकलने में उनका सिर चकराता था। घर बैठे कलम चलाते-चलाते उनकी दृष्टि घट गई, पीठ झुक गई, किन्तु फिर भी दुनियादारी का तजुरबा अभी बहुत ही थोड़ा है। लोक-व्यवहार के बंधे हुए बोल स्वभावतः उन्हें आते ही न थे, और इसलिए गृहदुर्ग से बाहर वे अपने को किसी भी तरह सुरक्षित न समझते थे।

लोग भी उन्हें एक अजीब ही चीज़ समझते थे, और इसमें उनका कोई दोष भी नहीं था। मान लो, पहली मुलाकात में किसी भलेमानस ने उनसे बड़ी प्रसन्नता से कहा कि 'आपके साथ मिलकर मुझे इतनी खुशी हुई कि जिसकी हद नहीं।' ताराचन्द चुपचाप बैठे बड़े ध्यान के साथ अपनी दाहिनी हथेली देखने लगे। सहसा इस नीरवता का अर्थ ऐसा मालूम होता है कि 'हां, तुम्हें जो खुशी हुई सो हो सकती है, किन्तु मुझे भी खुशी हुई है, ऐसा झूठ मैं कैसे मुंह से निकालूं, यही सोच रहा हूं।'

दोपहर के लिए निमन्त्रण देकर लखपति घर का मालिक जब तीसरे पहर थाली परोसवाना शुरू कराता, और बीच-बीच में विनीत प्रार्थना के साथ भोज्य पदार्थ की तुच्छता के विषय में ताराचन्द को सम्बोधनपूर्वक कहता रहता कि 'कुछ भी न बन सका, गरीब की रूखी-सूखी है, विदुर का आयोजन समझिए, आपको सिर्फ तकलीफ देना है' तब भी ताराचन्द वैसे ही चुप बने रहते जैसे उसकी बात इतनी सही है कि उसका जवाब नहीं दिया जा सकता।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि जब कोई भलामानस ताराचन्द से आकर कहता कि उनके समान अथाह पाण्डित्य इस ज़माने में मिलना मुश्किल है, सरस्वती अपना पद्मासन त्यागकर उनके कण्ठ में आ बसी है, तब भी ताराचन्द उसका ज़रा भी प्रतिवाद नहीं करते; मानो सचमुच ही सरस्वती उनका कण्ठ घेरे बैठी हो। ताराचन्द को यह जानना चाहिए कि मुंह पर जो प्रशंसा करते हैं, और दूसरों के सामने जो अपनी निन्दा में प्रवृत्त होते हैं, वे दूसरों से जवाब पाने की आशा से ही बहुत कुछ असंकोच अत्युक्ति कर डालते हैं। दूसरा पक्ष यदि शुरू

से आखिर तक तमाम बातें यों ही सुनता रहे, तो वक्ता अपने को ठगाया गया समझकर बहुत ही दुःखित होता है। बल्कि उस हालत में लोग अपनी बात झूठ साबित होने पर भी उलटे खुश ही होते हैं।

किन्तु घर के आदमियों के साथ ताराचन्द का व्यवहार दूसरी तरह का है। और तो क्या, उनकी खास स्त्री दाक्षायणी भी उनके साथ बातों में नहीं जीत पातीं। उन्हें बात-बात पर कहना पड़ता है, 'रहने दो, रहने दो, मैं हारी, तुम जीते, बस! मुझे अभी और भी बहुत-से काम करने हैं।' वाक्-युद्ध में अपनी स्त्री के मुंह से हार मनवा लें, ऐसी शक्ति और इतना सौभाग्य भला कितने पतियों को प्राप्त है?

ताराचन्द के दिन बड़े मज़े में बीत रहे थे। दाक्षायणी को इस बात का पक्का विश्वास था कि विद्या-बुद्धि और शक्ति में उसके पति के बराबर का कोई नहीं है; और इस बात को वह मुंह खोलकर कह भी डालती है। सुनकर ताराचन्द कहते, 'तुम्हारे एक के सिवा दूसरा पति ही नहीं, फिर तुलना करो भी तो किससे?' इसपर दाक्षायणी बहुत गुस्सा हो जाती।

दाक्षायणी को सिर्फ एक ही बात का अफसोस था, वह यह कि उसके पति की असाधारण प्रतिभा का प्रकाश पाठक-समाज तक नहीं पहुंच पाता; और न पति की तरफ से इस बारे में कुछ कोशिश ही होती है। ताराचन्द जो लिखते हैं उसे छपाते नहीं।

दाक्षायणी कभी-कभी अनुरोध करके पति के मुंह से उनकी रचना सुना करती, और जितना ही उसकी समझ में न आता उतनी ही वह आश्चर्य में पड़ जाती। उसने 'रामायण', 'महाभारत', 'कविकंकण-चंडी' पढ़ा है और कथाएं भी सुनी हैं—उनका सब कुछ पानी की तरह सरलता से समझ में आ जाता है, उन्हें निरक्षर लोग भी आसानी से समझ लेते हैं, किन्तु उसके पति की रचना के समान पूरी तरह से न समझ में आनेवाली ऐसी आश्चर्य की चीज़ उसने पहले कभी नहीं सुनी।

वह मन ही मन सोचती, 'जब यह पुस्तक छपकर निकलेगी और कोई भी जब उसका एक अक्षर भी न समझ सकेगा, तब देश-भर के लोग आश्चर्य से दंग रह जाएंगे।

उसने हज़ारों बार पति से कहा, "इन सबको तुम जल्दी छपा क्यों नहीं डालते!"

पति कहते, "पुस्तक छपाने के विषय में भगवान मनु स्वयं कह गए हैं, प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।"

ताराचन्द की चार सन्तान हैं, और चारों ही कन्या। दाक्षायणी समझती है कि यह गर्भधारिणी की ही त्रुटि है; और इसके लिए अपने को वह अपने प्रतिभाशाली पति के तईं बिलकुल अयोग्य स्त्री समझती है। जो पति बात की बात में ऐसे दुरूह ग्रंथों की रचना कर सकता है, भला उसकी स्त्री के गर्भ से लड़कियों के सिवा और कुछ न हो, स्त्री के लिए इससे बढ़कर अपटुता और क्या हो सकती है!

सबसे बड़ी लड़की जब पिता की छाती तक ऊंची हो गई तब ताराचन्द की निश्चिन्तता जाती रही। और तब उन्हें होश आया कि एक-एक करके चारों लड़कियों का ब्याह करना है; और उसके लिए काफी रुपयों की ज़रूरत है।

गृहिणी अत्यन्त निश्चिन्तता से बोली, "तुम अगर ज़रा एक बार पूरा मन लगा दो, तो फिर किसी बात की चिन्ता ही न रहे।"

ताराचन्द कुछ व्यग्रता से पूछ उठे, "सचमुच! अच्छा, बताओ तो क्या करना होगा?"

दाक्षायणी ने संशयरहित निरुद्विग्न भाव से उत्तर दिया, "कलकत्ता चले जाओ, और अपनी पुस्तकें छपाओ। लोग तुम्हें जान जाएं, फिर देखना रुपये अपने-आप आते हैं या नहीं!"

स्त्री के आश्वासन से ताराचन्द को भी धीरे-धीरे आश्वास मिलने लगा और मन में निश्चय-सा हो गया कि घर बैठे-बैठे अब तक उन्होंने जितना लिखा है उससे उनका अकेले का ही नहीं बल्कि मुहल्ले-भर के लोगों का कन्या दान से उद्धार किया जा सकता है।

कलकत्ता जाते समय एक ज़बरदस्त दिक्कत उठ खड़ी हुई। दाक्षायणी से अपने निरीह और निःसहाय पति को किसी भी तरह अकेला छोड़ते नहीं बना। जाने को तो वे अकेले ही जा सकते हैं, पर असल सवाल यह है कि वहां उन्हें खिला-पिलाकर और नित्य-नैमित्तिक कर्तव्यों की याद दिलाकर दुनियादारी के विविध उपद्रवों से उनकी रक्षा कौन करेगा? और दूसरी तरफ परेशानी यह कि अनभिज्ञ पति भी अनजान जगह में स्त्री-कन्याओं को साथ ले जाने में डरते हैं और राज़ी नहीं होते। अन्त में दाक्षायणी ने मुहल्ले के एक चतुर आदमी

को पति के नित्य अभ्यासों के बारे में हज़ारों उपदेश देकर लाचारी से उसीको अपने पद पर नियुक्त किया, और पति को बहुत-बहुत सौगन्ध दिलाकर, नाना प्रकार के तावीज़-गंडे पहनाकर परदेश रवाना कर दिया। और फिर खुद घर में पछाड़ खाकर विस्तर पर गिर पड़ी और रोने लगी।

कलकत्ता आकर ताराचन्द ने अपने चतुर साथी की सहायता से 'वेदान्त-प्रभाकर' प्रकाशित किया। और इस तरह दाक्षायणी के गहने गिरवी रखकर जो कुछ रुपये मिले थे उनमें से अधिकांश खर्च हो गए।

बिक्री के लिए किताबों की दुकानों पर और समालोचकों के लिए देश के तमाम छोटे-बड़े सम्पादकों के पास 'वेदान्त-प्रभाकर' भेजा गया। डाक से स्त्री को भी एक प्रति रजिस्टरी करके भेज दी। रजिस्टरी इस डर से की कि बीच ही में कहीं कोई उड़ा न ले।

गृहिणी ने जिस दिन छपी हुई किताब के ऊपर के पृष्ठ पर छापे के अक्षरों में अपने पति का नाम छपा देखा उस दिन मुहल्ले की तमाम लड़कियों को निमन्त्रण देकर खिलाया-पिलाया। और जहां सबके बैठने का स्थान था वहां किताब पड़ी रहने दी।

जब सब आकर बैठ गईं, तो ऊंचे स्वर में बोली, "अरे, यह पुस्तक यहां किसने रख दी! बेटी अन्नदा, जरा उस किताब को उठा देना, ऊपर उठाकर रख दू।" इन लड़कियों में अन्नदा पढ़ना जानती थी। दाक्षायणी ने पुस्तक उठाकर टीन के बकस पर रख दी, और कुछ देर बाद एक चीज़ उतारने में उसे हाथ से गिरा दिया, और फिर, अपनी बड़ी लड़की का नाम लेकर बोली, "सुशी, बापूजी की पुस्तक पढ़ना चाहती है क्या? तो लेती क्यों नहीं, पढ़ पढ़, इसमें शरम काहे की!" किन्तु बापूजी की पुस्तक पढ़ने के लिए सुशीला को बिलकुल ही आग्रह न था। कुछ देर बाद फिर उसे डाटकर कहने लगी, "छिः, बेटी, बापूजी की किताब इस तरह बिगाड़ते नहीं, अपनी कमला जीजी के हाथ में दे दे, वह उस आलमारी के ऊपर रख देगी।"

सचमुच, पुस्तक के अगर ज़रा भी कहीं चेतना होती, तो इस एक ही दिन के उत्पीड़न से वेदान्त का प्राणान्त हो जाता।

एक-एक करके सब समाचार-पत्रों में समालोचना निकलने लगी।

गृहिणी ने जो सोचा था वह बहुत अंशों में सत्य साबित होने लगा। ग्रन्थ का एक भी अक्षर न समझ में आने के कारण देश-भर के समालोचक अत्यन्त विह्वल हो उठे। सभीने एक स्वर में कहा कि 'ऐसा सारगर्भित ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ।' जो समालोचक रेनॉल्ड्से के 'लन्दन रहस्य' के हिन्दी अनुवाद के सिवा और कोई पुस्तक छूते तक नहीं थे उन्होंने बड़े उत्साह के साथ लिखा, 'देश के ढेर के ढेर नाटक-उपन्यासों के बदले यदि इस श्रेणी के दो-एक ग्रन्थ बीच-बीच में निकलते रहें, तो हमारा साहित्य सचमुच ही पढ़ने योग्य हो जाए।'

जिस व्यक्ति ने वंश परम्परा से वेदान्त का कभी नाम भी न सुना था उसीने सिर्फ यह लिखा कि 'लेखक के साथ कई स्थलों पर हमारा मतभेद है, स्थानाभाव के कारण यहां उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता; किन्तु फिर भी, साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार के साथ हमारे मत का बहुत जगह सामंजस्य पाया जाता है।' बात अगर सच होती, तो कम से कम ग्रन्थ को जला देना ही उचित था।

देश में जहां कहीं जितने भी पुस्तकालय थे और नहीं थे, उन सब के मन्त्रियों ने मुद्रा के बदले मुद्रांकित पत्र भेजकर ताराचन्द से ग्रन्थ की भिक्षा चाही। बहुतों ने लिख भेजा कि 'आपके इस विचारशील ग्रन्थ से देश का बड़ा भारी अभाव दूर हो गया।' 'विचारशील ग्रन्थ' किसे कहते हैं, ताराचन्द ठीक-ठीक समझ न सके, किन्तु फिर भी उन्होंने पुलकित चित्त से गांठ से डाकखर्च देकर हरएक पुस्तकालय को 'वेदान्त-प्रभाकर' भेज दिया।

इस तरह बेशुमार तारीफों की वर्षा से ताराचन्द जब बहुत ज़्यादा खुश हो रहे थे, ठीक उसी मौके पर उन्हें घर की एक चिट्ठी मिली कि 'उनकी स्त्री के बहुत जल्द पांचवीं सन्तान होने वाली है,' और तब कहीं वे अपने रक्षक को साथ लेकर किताबों के रुपये वसूल करने दुकानों पर पहुंचे।

लेकिन, प्रायः सभी दूकानदारों ने लगभग एक ही तरह का जवाब दिया, 'अभी तो एक भी किताब नहीं बिकी।' सिर्फ एक दुकानदार के मुंह से यह सुना कि बाहर से एक मांग आई थी और वी० पी० भी भेजी गई थी, पर वह लौट आई—इससे उलटा उसे डाकखर्च का दण्ड देना पड़ा। और इसके लिए वह ग्रन्थकार पर बहुत ही नाराज़ हुआ

ग्रौर उसी समय किताब वापस करने को तैयार हो गया।

ग्रन्थकार घर लौटकर बहुत कुछ सोचते रहे, किन्तु उनकी कुछ समझ में न ग्राया। ग्रपने 'विचारशील ग्रन्थ' के विषय में जितना ही ज़्यादा विचार करने लगे उतना ही पाठकों की तरफ से किए गए ग्रविचार पर उन्हें गम्भीर दुःख होने लगा। ग्रन्त में, जो कुछ रुपये बचे थे उन्हींके सहारे वे देश की तरफ चल दिए।

घर ग्राकर ताराचन्द ने बड़े ग्राडम्बर के साथ ग्रपनी स्त्री के ग्रागे प्रसन्नता प्रकट की। दाक्षायणी हंसती हुई शुभ संवाद के लिए प्रतीक्षा करती रही।

फिर ताराचन्द ने 'गौड समाचार' का एक ग्रंक लाकर गृहणी की गोद में रख दिया। पढ़कर मन ही मन उसने सम्पादक के लिए ग्रक्षय धन ग्रौर पुत्र की कामना की, ग्रौर उनके मुंह पर मानसिक पुष्प-चन्दन का ग्रर्घ्य भी ग्रर्पित किया। ग्रौर समालोचना पूरी पढ़ चुकने के बाद फिर वही पति की तरफ देखने लगी। पति ने तब 'नवप्रभात' खोलकर रख दिया। पढ़कर ग्रानन्द से विह्वल दाक्षायणी ने फिर पति के मुंह पर ग्राशा-भरी स्निग्ध दृष्टि डाली।

तब ताराचन्द ने 'युगान्तर' निकाला। उसके बाद ? उसके बाद दिखाया 'भारतभाग्यचक्र,' उसके बाद 'शुभ जागरण', ग्रौरफिर क्रमशः 'नवोदय', 'संवाद-तरंग-भंग', 'ग्ररुणालोक', 'ग्राशा', 'जागरणी', 'उच्छ्वास', 'पुष्प-मंजरी', 'सहचरी', सीता-गजट', 'ग्रहल्या-लाइब्रेरी-प्रकाशिका', 'ललित समाचार', 'कोतवाल', 'विश्व विचारक', 'लावण्य-लतिका' इत्यादि। हसते-हसते गृहिणी के ग्रानन्दाश्रु झरने लगे। ग्रांखों को पोंछकर स्त्री ने फिर एक बार पति के कीर्ति-रश्मि से समुज्जवल मुख की ग्रोर देखा।

पति ने कहा, "ग्रभी ग्रौर भी बहुत-से ग्रखबार बाकी हैं।"

दाक्षायणी ने कहा, "उन्हें शाम को देखूंगी, ग्रब ग्रौर-ग्रौर बातें सुनाग्रो, कैसे क्या हुग्रा ?"

ताराचन्द बोले, "ग्रब की बार कलकत्ता जाकर सुन ग्राया हूं कि लाट साहब की मेम ने एक किताब निकाली है; लेकिन उसमें 'वेदान्त-प्रभाकर' का कोई उल्लेख नहीं किया।"

दाक्षायणी ने कहा, "ग्ररे इन सब बातों को जाने दो, ग्रौर क्या

लाए हो सो बताओ न !"

ताराचन्द ने कहा, "कुछ चिट्ठियां भी हैं।"

अन्त में उसे साफ-साफ कहना पड़ा, "रुपये कितने लाए ?"

ताराचन्द ने उदास मुंह से उत्तर दिया, 'विधुभूषण से पांच रुपये उधार लेकर घर आया हूं।"

अन्त में दाक्षायणी ने जब सारा हाल सुना तब दुनिया की सचाई के बारे में उसका तमाम विश्वास पलट गया। अवश्य ही दुकानदारों ने उसके पति को ठग लिया है, और देश-भर के तमाम खरीदारों ने षड्यन्त्र करके दुकानदारों को छकाया है। फिर सहसा खयाल आया कि उसने जिसे अपना प्रतिनिधि बनाकर पति के साथ भेजा था उसी विधुभूषण ने ही भीतर ही भीतर दुकानदारों से मिलकर ऐसा किया है, और फिर जितना दिन चढ़ने लगा उतना ही साफ समझ में आने लगा कि उस मुहल्ले के विश्वम्भर चटर्जी उसके पति के पूरे दुश्मन हैं, यह सब कार्रवाई उन्हींकी है। हां, ज़रूर, जिस दिन उसके पति कलकत्ता गए थे उसके दो ही दिन बाद विश्वम्भर को उसने बड़ के नीचे खड़े-खड़े कन्हाई पाल से बात करते देखा था; और चूंकि कन्हाई पाल के साथ अकसर उसकी बातचीत हुआ करती थी, इससे उस समय सन्देह नहीं हुआ, अब सब साफ समझ आ रहा है।

दाक्षायणी को घर-गृहस्थी की दुश्चिन्ता दिनोंदिन बढ़ने ही लगी। जब अर्थोपार्जन का सबसे अच्छा और सुगम उपाय व्यर्थ हो गया तो अपना कन्या-प्रसव का अपराध उसे चौगुना सताने लगा। फिर वह विश्वम्भर, विधुभूषण या देश के अधिवासियों को इस अपराध के लिए ज़िम्मेदार न कर सकी—सारा अपराध एक अपने ही सिर पर लाद लिया। सिर्फ जो लड़कियां पैदा हुई हैं और होंगी, उन्हें भी ज़रा-ज़रा बांट दिया। दिन और रात, एक घड़ी के लिए भी उसके मन में शान्ति न रही।

ज्यों-ज्यों प्रसव का समय नज़दीक आने लगा त्यों-त्यों दाक्षायणी के शरीर की हालत बिगड़ने लगी। सबको विशेष चिन्ता हो गई।

निरुपाय ताराचन्द पागल की तरह विश्वम्भर के पास दौड़ गए। बोले, "भाई साहब, मेरी इन पचास किताबों को गिरवी रखकर अगर कुछ रुपये दे दो, तो मैं शहर से अच्छी दाई बुलाकर दिखा देखूं।"

विश्वम्भर ने कहा, "भाई इसके लिए कोई फिकर नहीं, रुपये

जो लगें सो मैं दे दूंगा, तुम यह किताबें ले जाओ।" इतना कहकर उसने कन्हाई पाल से, बहुत कुछ कहा-सुनी करके, कुछ रुपए लाकर दिए, और विधुभूषण स्वय अपनी गांठ से राह-खर्च देकर कलकत्ता से दाई ले आया।

दाक्षायणी ने न जाने क्या सोचकर पति को कमरे में बुलवाया; और अपने सर की कसम देकर कहा, "जब कभी तुम्हें वह दर्द सतावे तो साधु की दी हुई वह दवा खाना न भूलना, और इस तावीज़ को कभी न खोलना।" और भी बहुत-सी छोटी-छोटी बातें पति को समझाईं, और उनका हाथ पकड़कर उनसे सब मंज़ूर करा लीं। फिर बोली, "विधुभूषण का ज़रा भी विश्वास नहीं, उसने हमारा सत्यानाश किया है।" नहीं तो वह औषधि-तावीज़ और सर की कसम समेत अपने पति को उसीके हाथ सौंप जाती।

इसके बाद उसने अपने महादेव के समान विश्वासप्रवण भोलानाथ पति को संसार के निर्मम कुटिल बुद्धि षड्यन्त्रकारियों के विषय में बार-बार सावधान कर दिया। अन्त में चुपके से बोली, "देखो, मेरे जो लड़की होगी वह अगर ज़िन्दा रहे, तो उसका नाम रखना 'वेदान्तप्रभा' बाद में फिर चाहे उसे 'प्रभा' कहकर ही बुलाना, कोई हर्ज नहीं।" इतना कहकर पति के पांव छुए और पांवों की धूलि माथे से लगाई। मन ही मन कहने लगी, 'सिर्फ लड़कियां पैदा करने ही पति के घर आई थी। अब की शायद उससे पिण्ड छूट जाए।'

दाई ने जब कहा, "मांजी, देखना ज़रा, लड़की कैसी सुन्दर हुई है!" तब मां ने एक बार लड़की को देखकर आंखें मींच लीं और बड़े कोमल स्वर में कहा, "वेदान्तप्रभा!"

इसके बाद फिर उसे इस लोक में एक भी बात कहने का अवसर न मिला।

[मूल रचना : १९४८]

हृदय-परिवर्तन

एक दिन सवेरे, सड़क पर खड़े-खड़े, दो लड़कों ने आपस में एक मुश्किल काम के लिए होड़ बदी। होड़ का विषय था 'कोई मन्दिर के बगीचे से फूल ला सकता है या नहीं।' एक लड़का कह रहा था, "मैं ला सकता हूं।" और दूसरा कह रहा था, "हरगिज़ नहीं।"

सुनने में तो काम आसान मालूम देता है, पर करने में क्यों कठिनाई है, इसे ज़रा विस्तार के साथ कहना ज़रूरी है।

स्वर्गीय पण्डित माधवचन्द्र तर्क-वाचस्पति की विधवा स्त्री जयकाली देवी श्रीराधानाथजी के मन्दिर की अधिकारिणी हैं। स्वर्गीय अध्यापकजी को संस्कृत पाठशाला से जो 'तर्क-वाचस्पति' की उपाधि प्राप्त हुई थी, वे हज़ार कोशिश करने पर भी उसे अपनी स्त्री के सामने एक दिन के लिए भी प्रमाणित नहीं कर सके थे। किसी-किसी पण्डित के मतानुसार उनकी वह उपाधि सार्थक हुई थी, कारण, तर्क और वाक्य सब कुछ उनकी पत्नी के हिस्से में आया था, और पति के रूप में वे उसका सम्पूर्ण फल भोगा करते थे।

सत्य की प्रेरणा से इतना तो कहना ही पड़ेगा कि जयकाली ज़्यादा बात नहीं करती थीं, पर अकसर दो ही एक बात में, यहां तक कि नीरव रहकर प्रबल से प्रबल बतक्कड़ का भी मुंह बंद कर देती थीं।

जयकाली कद में लम्बी, मज़बूत, पतली नाकवाली और बुद्धि में बहुत तेज़ थीं। पति की मौजूदगी में ही उनकी देवोत्तर-सम्पत्ति नष्ट होने की नौबत आ पहुंची थी; किन्तु विधवा ने अपनी बुद्धि से उसे बचा लिया था।

इस स्त्री की प्रकृति में पौरुष का अंश काफी था और इसलिए उनकी सच्ची साथी-संगिनी कोई न थी। स्त्रियां उनसे डरती थीं। पराई निन्दा और छोटी-छोटी बातें या 'अपना रोना' उनके लिए असह्य था। पुरुष भी उनसे डरते थे; क्योंकि गांव के मुखियाओं के मन्दिर-सम्बन्धी महा आलस्य को वे इस तरह नीरव घृणापूर्ण तीक्ष्ण कटाक्षों से धिक्कारा करती थीं कि वह उनकी स्थूल जड़ता को भेदकर अन्तर तक पहुंच जाता था।

इस प्रौढ़ा विधवा में कठोरता से घृणा करने और उस घृणा को कठोरता से प्रकट करने की असाधारण शक्ति थी। न्याय में जिसे वे

अपराधी ठहरा देतीं उसे बात और बिना बात, भाव और भंगी सब तरह से बिलकुल जलाती चली जा सकती थीं।

गांव के हरएक क्रिया-कर्म में, विपदा सम्पद में, उनका उत्साहित हाथ बराबर काम किया करता था। सब जगह वे अपने लिए गौरव का स्थान बिना कोशिश के बहुत ही आसानी से प्राप्त कर लेती थीं। जहां वे मौजूद रहतीं वहां वे ही सबके ऊपर प्रधान पद पर होतीं, इसमें स्वयं उन्हें अथवा उपस्थित किसी भी व्यक्ति के मन में सन्देह होना असम्भव था।

रोगी की सेवा में वे सिद्धहस्त थीं, किन्तु रोगी उनसे यम के समान डरते थे। पथ्य या नियम में तिल-भर भी इधर-उधर होते ही उनका क्रोधानल रोग के ताप से भी अधिक उत्तप्त हो उठता, जिससे रोगी की दशा और भी खराब हो जाती।

यह दीर्घकाया कठिन विधवा विधाता के कठोर नियमदण्ड की तरह सर्वदा गांव के मस्तक पर उद्यत रहती थी; कोई भी उससे स्नेह या उपेक्षा करने का साहस न करता। गांव के सबके साथ उनका सम्बन्ध था, किन्तु फिर भी वे अकेली थीं।

विधवा के कोई सन्तान न थी। बिना मां-बाप के दो भतीजे उनके घर पले थे। कोई पुरुष अभिभावक न होने से उनपर किसी तरह का शासन न था, फिर भी कोई यह नहीं कह सकता था कि स्नेहान्ध बुआ के लाड़-प्यार से वे बिगड़े जा रहे हैं। उनमें से बड़े की उमर थी अठारह साल की। बीच-बीच में उसकी सगाई की चर्चा छिड़ती थी; और लड़का भी इस मामले में दिलचस्पी लेने लगा था। किन्तु 'बुआजी' ने उसकी इस सुख-वासना को कभी एक दिन के लिए भी पनपने नहीं दिया। और-और स्त्रियों की तरह किशोर नव-दम्पति का नवीन प्रेमोद्गम-दृश्य उनकी कल्पना में अत्यन्त उपभोग्य और मनोरम प्रतीत नहीं होता था। बल्कि उनकी दृष्टि में तो यह कल्पना ही अत्यन्त हेय थी कि ब्याह करके अन्य गृहस्थों की तरह उनका भतीजा भी आलस्य, विलास और पत्नी के प्रेम में पड़ा-पड़ा फूलता रहे। वे कठोरता के साथ कहा करतीं कि पुलिन पहले रोज़गार करना शुरू करे, तब उसका ब्याह होगा। बुआ के मुंह से ऐसी कड़ी बात सुनकर पास-पड़ोसिनों के हृदय फट-फट जाते।

मन्दिर ही जयकाली का सबसे बड़ा अपना और प्यारा धन था।

ठाकुरजी के शयन-वसन-स्नानाहार में तिलमात्र भी त्रुटि नहीं हो पाती थी। पुजारी मन्दिर के दो देवताओं की अपेक्षा इस एक मानवी से बहुत ज़्यादा डरता था। पहले एक ज़माना था जब देवता का प्राप्य नैवेद्यादि देवता को पूरा नहीं मिलता था। कारण, पुजारी ब्राह्मण की एक और पूजा की प्रतिमा गुप्त मन्दिर में थी। उसका नाम था निस्तारिणी। गुप्त रूप से घी-दूध, मलाई-मिठाई आदि नैवेद्य स्वर्ग और नरक दो जगह बंट जाया करता था। किन्तु अब जयकाली के शासन में पूजा का सौ फीसदी हिस्सा ठाकुरजी के ही भोग में आता है, उप देवताओं को जीविका के लिए अन्यत्र शरण लेनी पड़ी है।

विधवा के यत्न और प्रयत्न से मन्दिर का आंगन साफ-सुथरा चमका करता है। कहीं एक तृण भी अव्यवस्थित नहीं पड़ा रहता। एक तरफ मांचे पर माधवी लता है, उसका कोई सूखा पत्ता नीचे पड़ते ही जयकाली उसे उठाकर बाहर फेंक देती हैं। मन्दिर की सजावट, सफाई और पवित्रता में कहीं तिलमात्र भी व्याघात हो जाए तो विधवा के लिए वह असह्य हो जाता। पहले मुहल्ले के लड़के आंखमिचौनी खेलने के लिए इस आंगन का थोड़ा-बहुत उपयोग किया करते थे, और कभी-कभी बकरी के बच्चे आकर माधवी लता का कुछ अंश खा जाया करते थे। परन्तु अब वे बातें हवा हो गईं। किसी खास पूजा-पाठ या उत्सव के दिन भले ही लड़के आंगन के भीतर आ जाएं, वरना किसी की मजाल क्या कि कोई भीतर को झांके भी! और क्षुधातुर बकरी के बच्चे को तो पत्ते के बदले लाठी खाकर दरवाज़े पर से ही अपनी अज-जननी का आह्वान करते हुए भाग जाना पड़ता है।

कोई भी अनाचारी व्यक्ति, फिर चाहे वह बिलकुल अपना ही आदमी क्यों न हो, मन्दिर के प्रांगण में प्रवेश नहीं कर पाता। एक बार जयकाली के किसी मुसलमान के हाथ से पके मुर्गे का मांस खाने वाले उसके बहनोई ने उनके गांव में आकर मन्दिर प्रांगण में प्रवेश करना चाहा था; किन्तु जयकाली ने तुरन्त ही उसका विरोध किया और नहीं आने दिया। इसपर सहोदरा बहन से उनका हमेशा के लिए विच्छेद हो गया। इस देवालय के सम्बन्ध में विधवा की तरफ से इतनी अधिक अतिरिक्त अनावश्यक सतर्कता थी कि जन-साधारण की दृष्टि में वह निरा पाखण्ड ही मालूम होता।

जयकाली और सब जगह कठिन-कठोर, उन्नत और स्वतन्त्र थीं,

सिर्फ एक इस मन्दिर के आगे ही उन्होंने परिपूर्णरूप से आत्मसमर्पण किया था। इस प्रतिमा के आगे वे एकान्त रूप से जननी, पत्नी, दासी थीं, उसके सामने वे सतर्क, सुकोमल, सुन्दर और सम्पूर्ण विनम्र थीं। यह पत्थर का मन्दिर और पाषाण की प्रतिमा उनके निगूढ़ नारी-स्वभाव का एकमात्र चरितार्थता का विषय था। उनके लिए वही पति, वही पुत्र, वही संसार और वही सब कुछ था।

इसीसे पाठक समझ सकते हैं कि जो लड़का मन्दिर के आंगन में जाकर फूल तोड़ने की होड़ बद रहा था उसके साहस का क्या ठिकाना! वह था जयकाली का छोटा भतीजा नलिन। वह अपनी बुआ को अच्छी तरह जानता था, फिर भी उसकी आवारा प्रकृति के शासन के वश में नहीं आई थी। जहां विपत्ति होती वहीं उसका विशेष आकर्षण होता, और जहां शासन होता वहीं उसके उल्लंघन के लिए उसका चित्त चंचल हो उठता। सुनते हैं, बचपन में उसकी बुआ का स्वभाव भी ऐसा ही था।

जयकाली उस समय मातृ-स्नेह-मिश्रित भक्ति के साथ देवता की ओर एक दृष्टि से देखती हुई दालान में बैठी माला जप रही थीं।

लड़का पैर दबाए चुपचाप पीछे से आकर आंगन में खड़ा हो गया। देखा कि नीचे की शाखाओं में फूल नहीं हैं, पूजा के लिए तोड़ लिए गए हैं। तब वह धीरे-धीरे बहुत ही सावधानी के साथ मांचे पर चढ़ा। ऊंची शाखा पर दो-एक अधखिली कलियां देखकर ज्योंही उसने शरीर और हाथ को आगे बढ़ाया, त्योंही उसके बोझ से मांचा टूटकर चरचराता हुआ नीचे आ गिरा और उसपर आश्रित लता और नलिन दोनों ज़मीन पर दिखाई दिए।

जयकाली झटपट उठकर दौड़ी आईं, और अपने भतीजे की करतूत देखी। ज़ोर से बांह पकड़कर उसे उठाया। चोट काफी लगी थी, पर उस चोट को सज़ा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अज्ञान जड़ की चोट थी। इसलिए ऊपर से गिरे हुए बालक के व्यथित शरीर पर जयकाली के सज्ञान सजीव हाथों की मार पड़ने लगी। लड़के ने एक बूंद भी आंसू न गिराकर चुपचाप सब सह लिया। फिर उसकी बुआ उसे घसीटकर भीतर ले गईं और कोठरी में बन्द कर दिया। उस दिन शाम को उसे खाना नहीं दिया गया।

खाना बन्दी की बात सुनकर नौकरानी मोक्षदा को बड़ी दया

आई। उसने डबडबाती हुई आंखों से बच्चे को माफ करने के लिए मिन्नत की। किन्तु उससे जयकाली का मन नहीं पसीजा। पण्डितानी से छिपाकर भूखे बच्चे को कोई खाना खिला दे, इतना दुस्साहस किसीमें न था।

आदमी बुलाकर मांचा ठीक कराने के लिए कहकर वे फिर माला लेकर दालान में बैठ गईं। मोक्षदा फिर कुछ देर बाद डरती हुई उनके पास पहुंची, बोली, "दादाजी, लल्ला बाबू भूख के मारे रो रहे हैं; उनके लिए थोड़ा-सा दूध पहुंचा दूं?"

जयकाली ने अविचलित दृढ़ता के साथ कहा, "नहीं।"

मोक्षदा लौट आई।

पास की कोठरी से नलिन का करुणक्रन्दन क्रमशः क्रोध के गर्जन के रूप में परिणत हो रहा था। अन्त में, बहुत देर बाद, उसकी व्याकुलता का श्रान्त उच्छ्वास रह-रहकर जप में बैठी हुई बुआ के कानों में ध्वनित होने लगा।

नलिन का क्रन्दन अब श्रान्त होकर थमने लगा था कि इतने में और एक जीव की भय से व्याकुल करुण आर्तध्वनि सुनाई देने लगी, और उसके साथ ही दूर से उसका पीछा करनेवाले आदमियों के शोर-गुल ने मन्दिर के सामनेवाले रास्ते में आकर विचित्र रूप धारण किया।

सहसा प्रांगण में किसीका पदशब्द सुनाई दिया। जयकाली ने पीछे को मुड़कर देखा, ज़मीन पर गिरी हुई माधवी लता हिल रही है।

उन्होंने गुस्से के साथ आवाज़ दी, "नलिन!"

किसीने जवाब नहीं दिया। समझ लिया कि जिद्दी नलिन कोठरी से किसी तरह निकलकर फिर उन्हें गुस्सा दिलाने आया है।

तब बहुत ही कठोरता से होंठ चबाती हुई विधवा आंगन में उतर आई।

लताकुंज के पास आकर फिर आवाज़ दी, "नलिन!"

कोई जवाब नहीं मिला। झाड़ी उठाकर देखा तो एक बहुत ही गन्दा सूअर प्राणों के डर से जान बचाने के लिए उसमें आ छिपा है!

विधवा का जो 'लता वितान' इस ईंट की दीवार के भीतर साक्षात् वृन्दावन का संक्षिप्त प्रतिरूप है, जिसकी विकसित कुसुम-मंजरियों का सौरभ गोप-गोपियों की सुगन्धित निश्वास की याद दिलाता है और कालिन्दी तीर के सुख-विहार के सौन्दर्य-स्वप्न को जाग्रत कर देता है,

विधवा की उसी प्राणाधिक प्रिय सुपवित्र नन्दनभूमि में अचानक ऐसी वीभत्स दुर्घटना हो गई।

पुजारी ब्राह्मण लाठी हाथ में लिए दौड़ा आया।

जयकाली ने हाथ उठाकर उसे मना कर दिया और जल्दी से आगे बढ़कर मन्दिर का दरवाज़ा बन्द कर दिया।

थोड़ी देर बाद ही, ताड़ी पिए हुए मतवाले डोमों का झुंड मन्दिर के द्वार पर आ पहुंचा, और अपने बलि के पशु के लिए शोर मचाने लगा।

जयकाली ने बन्द दरवाज़े के भीतर से कहा, "जाओ, जाओ; भागो सब यहां से। देवता का मन्दिर मत छूना।"

डोम वापस चले गए। जयकाली पण्डितानीजी अपने मन्दिर में अपवित्र पशु को ठहरने देंगी, प्रत्यक्ष देखकर भी, यह उन लोगों ने विश्वास नहीं किया।

इस मामूली घटना से अखिल जगत् के सर्वजीवों के महादेवता परम प्रसन्न हुए, परन्तु क्षुद्र गांव का 'समाज' नामधारी अतिक्षुद्र देवता अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा।

[मूल रचना : श्रावण, १९५१]

बाहर और भीतर

विपिनकिशोर अमीर घर में पैदा हुआ था, अतः जितना वह खर्च करना जानता था उतना कमाना उसने नहीं सीखा था। लिहाज़ा जिस घर में उसका जन्म हुआ वहां वह ज़्यादा दिन नहीं टिक सका।

विपिनकिशोर सुन्दर और सुकुमारमूर्ति तरुण युवक है। गाने-बजाने में सिद्धहस्त और काम-काज में बिलकुल अपटु, दुनियादारी के काम में अनावश्यक और जीवनयात्रा के लिए जगन्नाथ के रथ की तरह अचल। कहने का मतलब यह कि जिस विपुल आयोजन से वह चल सकता है वैसा आयोजन फिलहाल उसके हाथ से फिसल चुका है।

सौभाग्य से राजा चित्तरंजन, स्टेट ऑव वार्ड्स से अपनी सम्पत्ति वापस पाकर, किसी शौकिया नाटक-मण्डली के फन्दे में पड़ने की कोशिश कर रहे थे। इतने में विपिनकिशोर के सुन्दर चेहरे और गाने पर मुग्ध होकर उन्होंने उसे अपने अनुचरों में दाखिल कर लिया।

राजा साहब बी०ए० पास हैं। उनमें किसी तरह की उच्छृंखलता नहीं थी। बड़े आदमी के लड़के होने पर भी वे नियमित समय में, यहां तक कि निर्दिष्ट स्थान में सोते और खाते-पीते थे। किन्तु विपिन ने सहसा उन्हें नशे की तरह पकड़ लिया। उसका गाना सुनते-सुनते और उसके लिखे हुए गीतिनाट्य की आलोचना करते-करते वे ऐसे भूल जाते कि उनकी रसोई ठण्डी हो जाती और रात बीतती रहती।

दीवानजी कहने लगे कि उनके संयतस्वभाव मालिक के चरित्र-दोष में बस एक विपिन के प्रति आसक्ति-भर है, और कुछ नहीं।

रानी वसन्तकुमारी ने पति को डांटते हुए कहा, "न जाने कहां से एक बेहूदा बन्दर पकड़ लाए हो, उसके पीछे शरीर तक की रेढ़ मार दी। यहां से उसका मुंह काला हो तो मुझे चैन आए।"

राजा अपनी युवती स्त्री की इस ईर्ष्या पर मन ही मन खुश होते और हंसते। सोचते कि औरतें जिसे प्यार करती हैं, सिर्फ उसीको जानती हैं।

स्त्रियों के शास्त्र में यह कहीं लिखा ही नहीं कि संसार में आदर के पात्र और भी अनेक गुणी जन हैं। जिस आदमी ने उसके कान में विवाह का मन्त्र पढ़ा है, सब गुण उसीमें हैं और सारा आदर, लाड़-प्यार उसीके लिए है। पति खाने-पीने में आध घण्टे की देर कर दे तो सहन नहीं। यदि वह अपने आश्रित को निकाल बाहर करे तो उसकी क्या दशा होगी, दाने-दाने के लिए वह भटकता फिरेगा, इसकी उन्हें ज़रा भी फिकर नहीं। स्त्रियों का यह विवेकहीन पक्षपात दूषणीय हो सकता है, किन्तु चित्तरंजन को वह ज़्यादा बुरा नहीं मालूम हुआ। वे जब-तब विपिन की बहुत ज़्यादा तारीफ कर-करके स्त्री को चिढ़ाते और खुश होते रहते।

किन्तु यह राजकीय खेल बेचारे विपिन के लिए आरामदेह नहीं हुआ। अन्तःपुर की विमुखता के कारण उसके खाने-पीने की व्यवस्था में हर कदम पर कांटे चुभने लगे। अमीरों के घर, खासकर भद्र आश्रित-

जनों के प्रति नौकर-चाकरों का बरताव अच्छा नहीं होता, उसपर रानी की तरफ से नाराज़ी का आभास पाकर सब भीतर ही भीतर विपिन की काफी उपेक्षा करने लगे।

रानी ने एक दिन नौकर को डाटकर कहा, "तू तो अब यहां दिखाई ही नहीं देता कभी ! दिन-भर किया क्या करता है ?"

नौकर पूसा ने कहा, "राजा साहब के हुकुम से रात-दिन विपिन बाबू की टहल-चाकरी में लगा रहता हूं।"

रानी ने कहा, "अच्छा, विपिन बाबू तो नवाब बन गया मालूम होता है !"

दूसरे दिन पूसा ने विपिन की जूठी थाली ज्यों की त्यों पड़ी रहने दी। अनभ्यस्त हाथों से विपिन अपनी जूठी थाली आप मांजने लगा और किसी-किसी दिन उपवास भी करने लगा, किन्तु इस बारे में कोई शिकायत उसने राजा के कान तक नहीं पहुंचाई—नौकर-चाकरों के साथ झगड़ा करके उसने अपने को छोटा नहीं बनाया। इस तरह, विपिन के भाग्य में हवेली के बाहरी हिस्से में आदर बढ़ने लगा, किन्तु अन्त:पुर में अनादर की सीमा न रही।

इधर रिहर्सल के बाद 'सुभद्रा-हरण' गीतिनाट्य बिलकुल तैयार था। महल के आंगन में उसका अभिनय हुआ। राजा खुद बने श्रीकृष्ण, और विपिन ने अर्जुन का अभिनय किया। अहा, अर्जुन का जैसा गला था वैसा ही रूप ! दर्शकगण धन्य-धन्य करने लगे।

रात को राजा ने आकर बसन्तकुमारी से पूछा, "नाटक कैसा लगा ?"

रानी ने कहा, "विपिन ने अर्जुन का तो अभिनय बहुत अच्छा किया था। चेहरा भी खूब है बड़े घराने का सा, गले की मिठास का तो कहना ही क्या।"

राजा ने कहा, "और मेरा चेहरा कुछ भी नहीं ! और गला भी कड़ुआ लगा, क्यों ?" रानी ने कहा, "तुम्हारी बात और है।" और फिर विपिन के अभिनय की चर्चा छेड़ दी।

राजा खुद इससे कहीं ज्यादा और आदेशमयी भाषा में रानी के सामने विपिन की तारीफ कर चुके हैं, किन्तु आज रानी के मुंह से ज़रा-सी प्रशंसा सुनकर उन्हें ऐसा लगा कि विपिन जितना कर सकता

है, नासमझ लोग उससे कहीं ज़्यादा बढ़ा-चढ़ाकर उसकी तारीफ किया करते हैं। क्या तो उसका चेहरा है, और गला! कुछ दिन पहले वे खुद उक्त नासमझों की श्रेणी में थे, किन्तु आज अचानक किस वजह से उनकी समझ इतनी बढ़-चढ़ गई, कहना मुश्किल है।

दूसरे दिन से विपिन के खाने-पीने का बहुत अच्छा इन्तज़ाम हो गया। वसन्तकुमारी ने राजा से कहा, "विपिन को बाहर कचहरी में गुमाश्तों के साथ रखना उचित नहीं है, कुछ भी हो, है तो वह अमीर घर का लड़का।"

राजा ने संक्षेप में बात को निगलते हुए कहा, "हूं।"

रानी ने अनुरोध किया कि बच्चे के अन्नप्राशन के दिन फिर एक बार नाटक कराना चाहिए। राजा ने उनकी बात पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया।

एक दिन, धोती-दुपट्टा ठीक से नहीं चुना गया तो राजा ने पूसा को बहुत फटकारा। पूसा ने कहा, "क्या करूं, हुजूर, रानी साहिबा के हुकुम से विपिन बाबू की सेवा-टहल में सारा वक्त बीत जाता है।"

राजा बहुत नाराज़ हुए, बोले, "अच्छा, विपिन तो आजकल भारी नवाब हो गया है, अपना काम आप नहीं कर सकता!"

विपिन को पुनर्मूषक होना पड़ा।

रानी राजा के पीछे पड़ गईं कि शाम को बैठकखाने में जहां वे गाना सुना करते हैं वहां बगल के कमरे में परदे का इन्तज़ाम करा दिया जाए—वे भी गाना सुनेंगी, उन्हें विपिन का गाना बहुत अच्छा लगता है।

राजा ने अगले ही दिन से पहले की तरह अत्यन्त नियमित समय में खाना-पीना और सोना शुरू कर दिया। गाना-बजाना अब नहीं होता।

दोपहर को राजा ज़मींदारी का काम देखा करते थे। एक दिन वे ज़रा कुछ जल्दी ही अन्तःपुर पहुंच गए। देखा कि रानी कुछ पढ़ रही हैं।

राजा ने पूछा, "क्या पढ़ रही हो?"

रानी पहले तो कुछ सहम-सी गईं, फिर बोलीं, "विपिन बाबू की गानों की एक कापी है, दो-एक गाने याद करने के लिए मंगाई थी। अचानक तुम्हारा शौक तो मिट ही गया। अब तो गाना सुनना हो नहीं

सकता।" इसके बहुत पहले ही रानी ने भी उनके इस शौक को जड़ से नष्ट करने की भरसक कोशिश की थी, उस बात की आज उन्हें किसीने याद ही नहीं दिलाई।

दूसरे ही दिन राजा ने विपिन को विदा कर दिया। कल से उसकी क्या दशा होगी, इस विषय में उन्होंने ज़रा भी विचार नहीं किया।

दुःख सिर्फ इस बात का ही नहीं, सबसे बड़ा दुःख तो विपिन के यह बैठ गया कि वह राजा से अकृत्रिम अनुराग कर बैठा था, और, वेतन की अपेक्षा राजा का प्रेम ही उसके लिए बहुत ज़्यादा कीमती हो गया था। आखिर किस कसूर पर अचानक इस तरह राजा ने उसे अपने प्रेम में से, दूध में से मक्खी की तरह, निकालकर फेंक दिया, बहुत सोचने-विचारने पर भी उसकी समझ में नहीं आया। अन्त में उसने एक गहरी सांस ली, और अपने पुराने तम्बूरे पर गिलाफ चढ़ाकर वह बन्धुहीन विशाल संसार में भटकने निकल पड़ा। जाते वक्त राजभृत्य पूसा को वह अपनी आखिरी पूंजी दो रुपया इनाम में दे गया।

[मूल रचना : आषाढ़, १६५७]

समाप्ति

अपूर्वकुमार बी० ए० पास करके छुट्टियों में कलकत्ता से अपने गांव को लौट रहा था।

छोटी-सी नदी है। वर्षा के अन्त में अकसर सूख-सी जाया करती है। अभी सावन का महीना है। नदी खूब चढ़ी हुई है, गांव की सीमा और बांस की झाड़ियों की जड़ को चूमती हुई तेजी से बहती चली जा रही है।

लगातार कई दिनों की घनघोर वर्षा के बाद आज ज़रा बादल छंटे हैं और आकाश में धूप दिखाई दे रही है।

नाव पर बैठे हुए अपूर्वकुमार के मन के भीतर की वह तसवीर अगर दिखाई देती, तो देखते कि वहां भी इस युवक की मानस नदी नववर्षा से बिलकुल किनारे तक लबालब भर गई है, और नदी का पानी प्रकाश से झिलमिल-झिलमिल और हवा से छपछप-छपछप कर रहा है।

नाव यथासमय घाट पर आ लगी। नदी के किनारे से पेड़ों की ओट में से अपूर्व के घर की छत दिखाई दे रही है। घर पर किसीको मालूम तक नहीं कि अपूर्व आ रहा है, इसलिए घाट पर उसे लेने के लिए कोई आदमी नहीं आया। मल्लाह बैग उठाने के लिए उद्यत हुआ तो अपूर्व ने उसे मना कर दिया, वह खुद ही बैग हाथ में लटकाकर आनन्द की उमंग में झटपट नाव से उतर पड़ा।

उतरते ही, किनारे पर थी फिसलन, बैग-समेत वह कीचड़ में गिर पड़ा। और ज्योंही वह गिरा, त्योंही न जाने कहां से एक मीठे ऊंचे कण्ठ की तरल हास्य-लहरी ने आकर बगल के पीपल पर बैठी हुई चिड़ियों को चकित कर दिया।

अपूर्व बहुत ही शरमिन्दा हुआ, और झटपट अपने को सम्हालकर चारों तरफ देखने लगा। देखा कि किनारे पर जहां महाजन की नाव से नई ईंटें उतारकर इकट्ठी की गई हैं, उन्हींपर बैठी हुई एक लड़की हंसते-हंसते बिखरी जा रही है।

अपूर्व ने पहचान लिया कि वह उन्हींकी नई पड़ोसिन की लड़की मृण्मयी है। पहले इन लोगों का घर यहां से बहुत दूर बड़ी नदी के किनारे पर था। दो-तीन वर्ष हुए, नदी की बाढ़ के कारण उन्हें गांव छोड़कर यहां चला आना पड़ा है।

इस लड़की के बारे में बहुत निन्दा सुनने में आती है। गांव के पुरुष तो उसे स्नेह के मारे 'पगली' कहा करते हैं; किन्तु गृहिणियां उसके उच्छृंखल स्वभाव से सर्वदा भयभीत, चिन्तित और शंकित रहा करती हैं। गांव के लड़कों ही के साथ उसका खेल होता है, बराबर की लड़कियों के प्रति उसकी अवज्ञा की हद नहीं। बच्चों के राज्य में यह लड़की एक तरह से शत्रुपक्ष की फौज के उपद्रव के समान जान पड़ती है।

बाप की लाड़ली लड़की ठहरी, और इसीलिए वह इतनी निडर है। यद्यपि इस विषय में मृण्मयी की मां अपनी सखी-सहेलियों के आगे

हर वक्त अपने पति के खिलाफ फरियाद किया ही करती हैं, मगर फिर भी यह सोचकर कि बाप लड़की को लाड़ करते हैं और जब वे घर रहते हैं तो मृण्मयी की आंखों के आंसू उनके हृदय में वहुत ही व्यथा पहुंचाते हैं, वे प्रवासी पति की याद करके लड़की को किसी भी तरह रुला नहीं सकतीं।

मृण्मयी देखने में सांवली है। छोटे-छोटे घुंघराले बाल पीठ तक बिखरे रहते हैं। चेहरे पर बिलकुल बालक का सा भाव है, बड़ी-बड़ी काली आंखों में न तो शरम है, न डर, और न हाव-भाव का कोई लेश। शरीर लम्बा, परिपुष्ट, स्वस्थ और सबल है। उसकी उमर ज़्यादा है या कम, यह प्रश्न किसीके मन में उठता ही नहीं। अगर उठता तो लोग इस बात पर मां-बाप की निन्दा करते कि 'अभी तक वह कुंवारी ही फिर रही है।' जब कभी गांव के विदेशी ज़मींदार की नाव आकर घाट पर लगती है तो उस दिन गांव के लोग उनकी आवभगत करने की तैयारी में घबरा-से जाते हैं, घर की स्त्रियों की मुख-रंगभूमि पर अकस्मात् नाक के नीचे तक यवनिका पड़ जाती है, किन्तु मृण्मयी न जाने कहां से किसीके नंग-धड़ंग बच्चे को गोद में लिए हुए घुंघराले बाल पीठ पर बखेरे आ खड़ी होती है। जिस देश में कोई शिकारी नहीं, कोई विपत्ति नहीं, उस देश के हरिण के बच्चे की तरह वह निर्भीक खड़ी हुई कुतूहल से टकटकी लगाए देखा करती, और अन्त में अपने बालक संगियों के पास जाकर उस नवागत प्राणी के आचार-व्यवहार के विषय में विस्तार के साथ वर्णन करती।

हमारे अपूर्वकुमार ने छुट्टी के दिनों में घर आकर इससे पहले और भी दो-चार बार इस बन्धनहीन बालिका को देखा है, और फुरसत के वक्त, यहां तक कि काम के वक्त भी देखा है, इसके विषय में विचार किया है। पृथ्वी पर अनेक चेहरे देखने में आते हैं, किन्तु कोई-कोई चेहरा ऐसा होता है कि न कुछ कहना, न सुनना, चट से मन के भीतर जाकर ऐसा पैठ जाता है कि उसे निकालना मुश्किल हो जाता है। सिर्फ सौन्दर्य के कारण ही ऐसा होता हो सो बात नहीं, वह तो कुछ और ही गुण है, और शायद वह है स्वच्छता। अधिकांश चेहरों पर मनुष्य प्रकृति पूरी तौर से अपना प्रकाश नहीं डाल पाती, और जिस चेहरे पर हृदय के एक कोने में बैठा हुआ वह रहस्य-मय व्यक्ति बिना बाधा के बहार निकलकर दिखाई देता है वह चेहरा

हज़ारों में छिपता नहीं, पल-भर में मानस-पट पर अंकित हो जाता है। इस बालिका के चेहरे पर, आंखों पर एक चंचल और ढीठ नारी-प्रकृति हमेशा उन्मुक्त और जंगल के दौड़ते हुए मृग की तरह दिखाई देती रहती है, और वह खेलती फिरती है, और इसीलिए ऐसे सजीव चंचल चेहरे को एक बार देख लेने पर फिर सहज में वह भुलाए नहीं भूलता।

पाठकों को यह बताने की ज़रूरत नहीं कि मृण्मयी की सकौतुक हास्य-ध्वनि चाहे कितनी ही मीठी क्यों न हो, किन्तु अभागे अपूर्व के लिए वह जरा कुछ तकलीफदेह ही साबित हुई। मारे शर्म के चेहरा उसका सुर्ख हो उठा, और हाथ का बैग चट से मल्लाह के हाथ में सौंपकर वह तेज़ी से अपने घर की तरफ चल दिया।

प्रकृति की तैयारियां भी बहुत सुन्दर थीं। नदी का किनारा, पेड़ों की छाया, चिड़ियों का मधुगान, प्रभात की मीठी-मीठी धूप उस-पर बीस साल की उमर। अवश्य ही ईंटों का ढेर ऐसा कुछ खास उल्लेख योग्य नहीं, किन्तु उसपर जो मानव-कन्या बैठी थी उसने उस रूखे-सूखे कठोर आसन पर भी एक तरह का खास मनोरम सौंदर्य का भाव फैला रखा था। हाय हाय, ऐसे मनोरम दृश्य में पहला कदम रखते ही जिसका सारा का सारा कवित्व प्रहसन में परिणत हो जाए उसके भाग्य की इससे बढ़कर निष्ठुरता और क्या हो सकती है!

ईंटों के ढेर के ऊपर से बहती हुई हंसी की लहर सुनते-सुनते पेड़ों की छाया के नीचे से कीच से सना दुपट्टा और बैग लिए हुए श्रीयुत अपूर्वकुमार किसी कदर अपने घर जा पहुंचे।

अचानक पुत्र के आ जाने से विधवा मां मारे खुशी के फूली न समाई। उसी वक्त खोआ, दही, दूध और मछली की खोज में दूर-नज़दीक सब जगह आदमी दौड़ाए गए, और पास-पड़ोस में भी एक तरह की हलचल मच गई।

खा-पी चुकने के बाद मां ने बेटे के आगे ब्याह का प्रस्ताव छेड़ा। अपूर्व इसके लिए तैयार था। कारण, प्रस्ताव बहुत पहले से ही पेश था, सिर्फ बेटा ज़रा कुछ नई रोशनी के चक्कर में आकर ज़िद कर बैठा था कि 'बी० ए० पास किए बग़ैर मैं ब्याह हरगिज़ नहीं कर सकता' इत्यादि। अब तक जननी उस 'पास' की ही प्रतीक्षा में थी,

लिहाजा अब किसी तरह की आपत्ति करने के मानी ही हैं झूठी बहानेबाज़ी।

अपूर्व ने कहा, "पहले लड़की तो देखो, फिर देखा जाएगा।"

मां ने कहा, "लड़की देखी जा चुकी है, उसके लिए तुझे फ़िकर करने की ज़रूरत नहीं।"

किन्तु, अपूर्व उसके लिए खुद ही फ़िकर करने को तैयार हो गया और बोला, "लड़की बिना देखे तो व्याह नहीं कर सकता।"

मां सोचने लगीं, 'ऐसी अनोखी बात तो आज तक नहीं सुनी!' किन्तु फिर भी राजी हो गईं।

रात को, अपूर्व दिया बुझाकर बिस्तर पर जा पड़ा और पड़ने के साथ ही वर्षा-निशीथ की सारी की सारी आवाज़ और सम्पूर्ण निस्तब्धता के उस पार से उसकी विनिद्र शय्या पर एक उच्छ्वसित उच्च मधुर कण्ठ की हास्य-ध्वनि आ-आकर लगातार उसके कानों में बजने लगी। उसका मन अपने को बार-बार लगातार यह कह-कहकर पीड़ा देने लग गया कि सवेरे वह जो पैर फिसलकर गिर पड़ा था उसका किसी न किसी तरकीब से उसे सुधार कर ही देना चाहिए। उस लड़की को यह मालूम ही नहीं कि 'मैं अपूर्वकुमार हूं, अचानक फिसलन पर पांव पड़ जाने से कीच में गिर जाने पर भी मैं कोई उपहास्य या उपेक्षणीय गांव का युवक नहीं।'

दूसरे दिन अपूर्व को लड़की देखने जाना था। ज़्यादा दूर नहीं, मुहल्ले में ही लड़की वालों का घर है। उसने ज़रा कुछ जतन के साथ ही कपड़े पहने। धोती-दुपटा छोड़कर रेशमी अचकन और पतलून, सिर पर अमीरी ढंग की गोल पगड़ी और पांवों में वार्निशदार चमकते हुए जूते पहनकर, रेशमी कपड़े की बढ़िया छतरी हाथ में लटकाए वह सवेरे ही चल दिया।

होनेवाली सुसराल में पदार्पण करते ही वहां समारोह-समादर की धूम मच गई। अन्त में यथासमय कम्पित हृदय लड़की को झाड़-पोंछकर रंग-रंगाकर, जूड़े में गोटा वगैरह लगाकर और एक महीन रंगीन साड़ी में लपेटकर उसे भावी वर के सामने लाया गया। लड़की एक कोने में लगभग घुटनों तक माथा झुकाए चुपचाप जड़वस्तु-सी बैठी रही, और उसके पीछे हिम्मत बंधाए रखने के लिए खड़ी रही एक अधेड़ उमर की दासी। लड़की का एक भाई, जोकि अभी बच्चा ही था, अपने

परिवार में अनधिकार प्रवेश करनेवाले इस नये आदमी की पगड़ी, घड़ी की चेन और उठती हुई मूंछों की तरफ बड़े ध्यान से टकटकी बांधे देखने लगा।

अपूर्व ने कुछ देर मूंछों पर हाथ फेरने के बाद अन्त में गम्भीरता के साथ पूछा, "तुम पढ़ती क्या हो!"

गहनों-कपड़ों से लदी हुई लज्जा की गठरी में से उसे अपने सवाल का कोई भी जवाब नहीं मिला। दो-चार बार पूछे जाने और पुरानी दासी द्वारा पीठ पर बार-बार उत्साहप्रद थपकिया पड़ने के बाद लड़की ने बहुत ही धीमी आवाज़ में जल्दी-जल्दी एक ही सांस कहकर छुट्टी पा ली, "कन्या-बोधनी दूसरा भाग, व्याकरण-सार, भूगोल, अंकगणित, भारतवर्ष का इतिहास।'

इतने में बाहर किसीकी तेज़ चाल की 'धम-धम' आवाज़ सुनाई दी; और दूसरे ही क्षण दौड़ती-हांफती और पीठ पर के बालों को हिलाती हुई मृण्मयी वहां आ धमकी। उसने अपूर्व की तरफ आंख उठाकर देखा तक नहीं, सीधी उस होनेवाली दुलहिन के छोटे भाई राखाल के पास पहुंची और उसका हाथ पकड़कर खींचना शुरू कर दिया। राखाल उस समय भावी दूल्हा-दुलहिन को देखने में गरक था, वहां से वह किसी भी तरह टस से मस नहीं हुआ। नौकरानी अपने संयत कण्ठ की कोमलता की भरसक रक्षा करती हुई यथासाध्य तीव्रता के साथ मृण्मयी को फटकारने लगी। और अपूर्व अपनी सारी की सारी गम्भीरता और गौरव को इकट्ठा करके पगड़ीशुदा माथे को ऊंचा करके बैठा रहा और पेट के पास लटकती हुई अपनी घड़ी की चेन को हिलाने लगा।

आखिरकार, मृण्मयी ने जब देखा कि उसका साथी किसी भी तरह विचलित नहीं हो रहा है तब उसने उसकी पीठ पर एक ज़ोर का मुक्का जमा दिया, और लगे हाथ भावी दुलहिन के माथे का घूंघट उघाड़कर वह आंधी की तरह जिस रफ्तार से आई थी उसी रफ्तार से भाग खड़ी हुई। नौकरानी जी मसोसकर रह गई, और भीतर ही भीतर घुमड़-घुमड़ के गरजने लगी। और राखाल अचानक बहन का घूंघट खुल जाने से एकाएक खिलखिलाकर हंस पड़ा। इस आनन्द में अपनी पीठ पर पड़े हुए मुक्के को भी उसने बेजा नहीं समझा। कारण ऐसा देन-लेन उनमें अकसर हुआ ही करता है—कोई खास बात नहीं थी। इसके लिए एक

दृष्टान्त ही काफी है। एक दिन की बात है मृण्मयी के बाल पीठ तक बढ़े हुए थे, राखाल ने अचानक पीछे से आकर कैंची से उसके बाल कतर दिए—इसपर मृण्मयी को बहुत ज़ोर का गुस्सा आया और उसने चट-से राखाल के हाथ से कैंची छीनकर अपने बाकी बचे हुए बाल भी बड़ी निर्दयता से कतर-कतरकर उसके मुंह पर दे मारे। मृण्मयी के घुंघराले बालों के गुच्छे डाली से गिरे हुए काले अंगूर के गुच्छों की तरह ज़मीन पर बिखर गए। इन दोनों में शुरू से ही इस तरह की शासन-प्रणाली प्रचलित थी।

इसके बाद फिर वह नीरव परीक्षा-सभा ज़्यादा देर तक न टिक सकी। गठरी-सी बनी लड़की बड़ी मुश्किल से अपने को लम्बी बनाकर दासी के साथ घर के भीतर चली गई। अपूर्व परम गम्भीरता के साथ अपनी उठती हुई मूंछों पर हाथ फेरता हुआ उठ खड़ा हुआ। दरवाज़े के पास जाकर देखा कि उसके वार्निशदार नये जूते वहां से गायब हैं। बहुत कोशिश करने पर भी इस बात का कतई पता न चला कि जूते कौन ले गया, कहां गए।

घरवाले सभी कोई बड़े परेशान हुए, और, अपराधी के नाम पर लगातार निन्दा और गालियों की वर्षा होने लगी।

बहुत ढूंढ़ने पर भी जब जूतों का कुछ पता न लगा, तो अन्त में मजबूर होकर घर-मालिक की फटी-पुरानी ढीली चट्टी पहनकर पतलून, अचकन, पगड़ी आदि से सुसज्जित अपूर्व गांव के कीचड़-भरे रास्ते से अत्यन्त सावधानी के साथ घर की ओर चल दिया।

तालाब के किनारे सुनसान रास्ते पर पहुंचते ही सहसा फिर उसे वही ज़ोर की हंसी सुनाई दी। मानो पेड़-पत्तों की ओट में से कौतुक-प्रिया वनदेवी अपूर्व की उन बेमेल जूतियों को देखकर एकाएक हंस पड़ी हो।

अपूर्व अत्यन्त लज्जित होकर ठिठक गया, और इधर-उधर निगाह दौड़ाकर देखने लगा। इतने में सघन वन में से निकलकर किसी निर्लज्ज अपराधिनी ने उसके सामने नये जूते रख दिए, और जैसे ही वह चट से भाग जाने को तैयार हुई कि अपूर्व ने जल्दी से उसके दोनों हाथ पकड़-कर उसे कैद कर लिया।

मृण्मयी ने यथासाध्य टेढ़ी-सीधी-तिरछी होकर ज़ोर लगाकर हाथ

छुड़ाकर भागने की बहुत कोशिश की, लेकिन व्यर्थ। घुंघराले बालों से घिरे हुए उसके भरे हुए गोलमटोल मुस्कराते हुए चंचल चेहरे पर सूरज की किरणें पेड़ की डालियों और पत्तों में से छन-छनकर पड़ने लगीं। कुतूहली पथिक जिस तरह सूर्य-किरणों से चमकती हुई निर्मल-चंचल निर्झरिणी की ओर झुककर टकटकी लगाए उसकी तली को देखता रहता है, ठीक उसी तरह अपूर्व ने मृण्मयी के ऊपर उठे हुए चेहरे पर झुककर, उसकी बिजली-सी चंचल आंखों के भीतर गहरी निगाह गड़ाकर देखा, और फिर बहुत ही आहिस्ते से मुट्ठी ढीली करके, मानो अपने कर्तव्य को अधूरा छोड़कर बन्दिनी को मुक्त कर दिया। अपूर्व अगर गुस्से में आकर मृण्मयी को पकड़कर मारता, तो उसे ज़रा भी आश्चर्य न होता, किन्तु इस प्रकार सुनसान रास्ते में इस अद्भुत नीरव दण्ड का वह कुछ अर्थ ही न समझ सकी।

नाचती हुई प्रकृति के नूपुरों की झनकार के समान फिर वही चंचल हास्य-ध्वनि सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त होकर गूंज उठी, और चिन्तानिमग्न अपूर्व बहुत धीरे-धीरे पांव रखता हुआ घर की ओर चल दिया।

अपूर्व उस दिन तरह-तरह के बहाने बनाकर न तो घर के भीतर गया, और न मां से मिला। किसीके यहां निमन्त्रण था, वहीं खा आया। अपूर्व सरीखा पढ़ा-लिखा और गम्भीर भावुक युवक एक मामूली, बिना पढ़ी-लिखी लड़की के मुकाबले अपना लुप्त गौरव उद्धार करने और उसे अपनी आन्तरिक महत्ता का पूर्ण परिचय देने के लिए क्यों इतना उत्कण्ठित हो उठा, यह समझना कठिन है। एक गंवई-गांव की चंचल लड़की ने उसे मामूली आदमी समझ ही लिया, तो क्या हो गया? और उसने क्षण-भर के लिए अपूर्व को हास्यास्पद बनाकर और फिर उसके अस्तित्व को भूलकर राखाल नाम के किसी निर्बोध लड़के के साथ खेलने के लिए दिलचस्पी ज़ाहिर की, तो इसमें अपूर्व का बिगड़ ही क्या गया? इन बच्चों के सामने उसे यह साबित करने की ज़रूरत ही क्या है कि वह 'विश्वदीप' नामक मासिक पत्र में किताबों की समालोचना किया करता है, और उसके बकस के अन्दर एसेन्स, जूते, रुबिनी के कैम्फर, चिट्ठी लिखने के रंगीन कागज़ और 'हारमोनियम-शिक्षा' किताब के साथ एक पूरी लिखी हुई प्रेस कापी, निशीथ के गर्भ में भावी

ऊषा की तरह, प्रकाशित होने की प्रतीक्षा कर रही है ?

किन्तु मन को समझाना कठिन है, कम से कम इस देहाती चंचल लड़की के सामने श्री अपूर्वकुमार राय बी० ए० पराजय स्वीकार करने को किसी भी समय तैयार नहीं।

शाम को अपूर्व जब घर के भीतर पहुंचा तो उसकी मां ने पूछा, "क्यों रे लड़की देख आया ? कैसी है, पसन्द है न ?"

अपूर्व ने ज़रा कुछ झेंपते हुए कहा, "हां, देख आया, मां ! उनमें से एक लड़की मुझे पसन्द है।"

मां ने कुछ आश्चर्य के साथ कहा, "तैंने कितनी लड़कियां देखी थीं वहां ?"

अन्त में दो-चार प्रश्नोत्तर के बाद मां को मालूम हुआ कि उनके लड़के ने पड़ोसिन शारदा की लड़की मृण्मयी को पसन्द किया है। इतना पढ़-लिखकर भी लड़के की ऐसी पसन्द !

पहले तो अपूर्व कुछ शरमाता रहा, फिर अन्त में मां जब उसकी पसन्द का विरोध करने लगीं तो उसकी वह शर्म जाती रही। यहां तक कि ज़िद में आकर वह कह बैठा, "मृण्मयी के सिवा मैं और किसी-से ब्याह करूंगा ही नहीं।" और ज्यों-ज्यों वह उसके सामने पहले लाई गई उस जड़-पुतली जैसी लड़की की कल्पना करने लगा, त्यों-त्यों ब्याह के बारे में उसकी अरुचि बढ़ती ही गई।

दो-तीन दिन तक मां और बेटे में नाराज़ी का भाव रहा। मां ने खाना-पीना, सोना तक बन्द कर दिया। किन्तु अन्त में अपूर्व की ही जीत हुई। मां ने अपने मन को समझाया कि मृण्मयी अभी बच्ची ही है, और उसकी मां उसे पढ़ाने में असमर्थ है, ब्याह के बाद अपने घर आ जाने पर वे उसे ठीक कर लेंगी। और धीरे-धीरे उन्हें इस बात पर भी भरोसा होने लगा कि उसका चेहरा सुन्दर है। किन्तु उसी समय उसके भद्दे बालों की कल्पना करते ही उनका मन निराशा से भर गया, फिर भी उन्होंने आशा की कि ठीक से जूड़ा बांधते रहने और खूब तेल डालते रहने से यह त्रुटि भी कुछ दिनों में जाती रहेगी।

मुहल्ले के सभी लोग अपूर्व की इस पसन्द को 'अपूर्वपसन्द' कहने लगे। पगली मृण्मयी को प्यार तो बहुत-से लोग करते हैं, किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि उसे वे अपने लड़के के साथ ब्याहने योग्य समझते हों।

मृण्मयी के बाप ईशानचन्द्र मजुमदार को यथासमय खबर दे दी गई। वे किसी स्टीमर कम्पनी की तरफ से बतौर क्लर्क के नदी के किनारे एक छोटे-से स्टेशन पर टीन से छाई हुई छोटी-सी झोंपड़ी में माल उतरवाने-लदवाने और टिकट बेचने का काम करते थे। देश से अपनी लड़की मृण्मयी के सम्बन्ध और ब्याह का समाचार पाकर उनकी दोनों आंखों से आंसू गिरने लगे। उनमें कितना दुःख और कितना आनन्द था, इस बात का अन्दाज़ा लगाना कठिन है।

अपनी लड़की के ब्याह में जाने के लिए ईशानचन्द्र ने हेड आफिस के साहब को छुट्टी के लिए दरखास्त दी। साहब ने उसे बहुत ही तुच्छ काम समझकर छुट्टी नामंजूर कर दी। तब उन्होंने घर को लिख दिया कि दशहरे के मौके पर एक हफ्ते की छुट्टी मिलेगी, तब तक के लिए ब्याह स्थगित रखा जाए।

अपूर्व की मां ने लिखा कि 'इस महीने का मुहूर्त बहुत अच्छा है, अब आगे दिन नहीं हटाया जा सकता।'

दोनों जगह से प्रार्थना नामंज़ूर हो जाने पर व्यथितहृदय पिता ने फिर कोई आपत्ति नहीं की, पहले की तरह ही वह माल वज़न करने और टिकट बेचने के काम में में लग गए।

इसके बाद, मृण्मयी की मां और गांव के जितने भी बड़े-बूढ़े थे सब कोई मिलकर मृण्मयी को उसके भावी कर्तव्य के विषय में दिन-रात उपदेश देने लगे। ऊटपटांग खेल-कूद, भाग-दौड़, जल्दी-जल्दी चलना, ज़ोर-ज़ोर से हंसना, लड़कों के साथ हिलना-मिलना, फालतू बातें करना और भूख लगते ही खाने को मांग बैठना इत्यादि विषयों पर मनाही की सलाह दे-देकर सबों ने ब्याह को उसके सामने एक भूत बनाकर खड़ा कर दिया।

उत्कण्ठित और शंकित-हृदय मृण्मयी ने समझा कि उसे ज़िन्दगी-भर के लिए कैद और उसके बाद फांसी की सजा दी जा रही है।

नतीजा यह हुआ कि कम्बख्त अड़ियल टट्टू की तरह गरदन टेढ़ी करके पीछे को हटकर कह बैठी, "मैं ब्याह नहीं करूंगी, जाओ!"

किन्तु फिर भी उसे ब्याह करना ही पड़ा।

उसके बाद शिक्षा शुरू हुई। अपूर्व की मां के घर आकर एक ही रात में मृण्मयी की अपनी सारी दुनिया कैद में घिर गई।

सास ने वहू का सुधार करना शुरू कर दिया। उन्होंने बहुत ही कठोर मुंह बनाकर बहू से कहा, "देखो बहू, तुम अब नन्हीं बच्ची नहीं रहीं—हमारे घर में ऐसी बेहयाई नहीं चलेगी।"

सास ने यह बात जिस भाव में कहीं, मृण्मयी उसे ठीक उसी रूप में न ले सकी। उसने सोचा कि इस घर में अगर न चले तो शायद दूसरी जगह कहीं जाना पड़ेगा।

दोपहर को वहू घर में नहीं दिखाई दी। 'कहां गई, कहां गई'—ढुंढ़ेरा पड़ गया। अन्त में विश्वासघातक राखाल ने उसके गुप्त स्थान का पता बताकर उसे पकड़वा दिया। वह बड़ के नीचे श्रीराधाकान्तजी के टूटे रथ में जाकर छिप गई थी।

सास ने, मां ने और अड़ोस-पड़ोस की सबकी सब हितैषिणियों ने उसको कितना डांटा-फटकारा और लज्जित किया, इसकी कल्पना खुद पाठक-पाठिकाएं ही कर लें तो अच्छा हो।

रात को खूब बादल घिर आए और रिमझिम मेह बरसने लगा।

अपूर्व ने धीरे-धीरे मृण्मयी, के पास पलंग पर जाकर उसके कान में धीरे से कहा, "मृण्मयी, तुम मुझे प्यार नहीं करतीं?"

मृण्मयी एकाएक कड़ककर बोल उठी, "नहीं। मैं तुम्हें हरगिज़ नहीं प्यार करूंगी।" मानो उसने अपना सारा गुस्सा और सबके कसूर का सारा दण्ड, सबको इकट्ठा करके एकसाथ बिजली की तरह अपूर्व के माथे पर दे मारा।

अपूर्व ने दुःखी होकर कहा, "क्यों, मैंने तुम्हारा क्या कसूर किया है?"

इस कसूर की संतोषजनक कैफियत देना मुश्किल है। अपूर्व ने मन ही मन कहा, 'इस विद्रोही मन को जैसे भी बने वश में करना ही होगा।'

दूसरे दिन सास ने मृण्मयी में विद्रोही-भाव के सब लक्षण देखकर उसे कोठे में बन्द कर दिया। पिंजड़े में फंसी हुई नई चिड़िया की तरह पहले तो बहुत देर तक कोठे के अन्दर फड़फड़ाती रही, फिर बाद में जब कहीं भी भागने का कोई रास्ता न मिला, तो निष्फल क्रोध से उसने बिछौने की चादर को दांतों से चीथ-चीथकर उसके झन्ने उड़ा दिए, और ज़मीन पर औंधी पड़कर मन ही मन बाप की याद कर-

करके रोने लगी।

ठीक इसी समय धीरे से कोई उसके पास आकर बैठ गया और बड़े स्नेह से उसके धूल में लोटते हुए बालों को गालों पर से एक तरफ हटा देने की कोशिश करने लगा। मृण्मयी ने बड़े ज़ोर से अपना सिर हिलाकर उसका हाथ हटा दिया।

अपूर्व ने उसके कानों के पास अपना मुंह ले जाकर बहुत ही कोमल स्वर में कहा, "मैंने चुपके से दरवाज़ा खोल दिया है। चलो, अपने पीछे के बगीचे में भाग जाएं।"

मृण्मयी ने ज़ोर से सिर हिलाकर रोते हुए कहा, "नहीं।"

अपूर्व ने ठोड़ी पकड़कर उसका मुंह ऊपर को उठाना चाहा और कहा, "एक बार देखो तो सही, कौन आया है!"

राखाल ज़मीन पर पड़ी हुई मृण्मयी की ओर देखता हुआ हतबुद्धि की तरह दरवाज़े के पास खड़ा था। मृण्मयी ने बिना मुंह उठाए ही अपूर्व का हाथ झटककर अलग कर दिया।

अपूर्व ने कहा, "देखो तो सही, राखाल तुम्हारे साथ खेलने आया है, तुम खेलने नहीं जाओगी?"

मृण्मयी ने गुस्से-भरे स्वर में कहा, "नहीं।"

राखाल ने भी देखा कि मामला गड़बड़ है। वह किसी तरह घर से बाहर निकलकर जान बचाकर भाग गया। अपूर्व चुपचाप बैठा रहा। जब मृण्मयी रोते-रोते थकके सो गई तब वह चुपके से उठा और बाहर से दरवाज़े की सांकल चढ़ाकर दबे-पांव वहां से चल दिया।

इसके दूसरे ही दिन मृण्मयी को पिता की एक चिट्ठी मिली। उसमें उन्होंने अपनी प्राणों से प्यारी बेटी मृण्मयी के ब्याह में न आ सकने के कारण विलाप करके अन्त में नव-दम्पति को आंतरिक आशीर्वाद दिया था।

मृण्मयी ने सास के पास जाकर कहा, "मैं बापूजी के पास जाऊंगी।"

सास ने अकस्मात् बहू की इस असम्भव प्रार्थना को सुनकर उसे डांट दिया, "बाप का कहीं कुछ ठीक-ठिकाना भी है कि ऐसे ही बापूजी के पास जाएगी! तेरा तो दुनिया से एक न्यारा ही स्वांग है! ऐसा लाड़ मुझे नहीं अच्छा लगता।"

बहू ने कुछ जवाब नहीं दिया। अपने कमरे में जाकर उसने

भीतर से किवाड़ बन्द कर लिए, और बिलकुल हताश आदमी जिस तरह देवता से प्रार्थना करता है उसी तरह वह कहने लगी, "बापूजी, मुझे तुम ले जाओ यहां से। यहां मेरा कोई नहीं है। यहां मैं नहीं बचूंगी।"

बहुत रात बीत जाने पर उसके पति सो गए तब वह चुपके से दरवाज़ा खोलकर बाहर चल दी। यद्यपि बीच-बीच में बादल घिर-घिर आते थे, फिर भी चांदनी रात में रास्ता दिखाई देने लायक उजाला काफी था। 'बापूजी' के पास जाने के लिए किस रास्ते से जाना चाहिए, मृण्मयी को कुछ भी पता न था। उसे तो सिर्फ इतना ही भरोसा था कि जिस रास्ते से डाक ले जानेवाले डाकिया लोग जाया करते हैं उसी रास्ते से दुनिया के किसी भी ठिकाने पर पहुंचा जा सकता है। मृण्मयी उसी डाक की सड़क से चलती चली गई। जंगल में जबकि दो-एक पक्षी पंख फड़फड़ाकर अनिश्चित स्वर में बोलना चाहते थे और साथ ही समय का निस्सन्देह निर्णय न कर सकने के कारण दुविधा में चुप रह जाते थे उस समय मृण्मयी सड़क के छोर में, नदी के किनारे एक बाज़ार सरीखे स्थान पर जा पहुंची। इसके बाद वह सोच ही रही थी कि अब किस ओर जाना चाहिए, इतने में उसे परिचित 'झमझम' शब्द सुनाई दिया। थोड़ी देर में कंधे पर चिट्ठियों का थैला लटकाए हांफता हुआ डाक का 'रनर' आ पहुंचा।

मृण्मयी जल्दी से उसके पास जाकर करुण और थके हुए स्वर में बोली, "मैं अपने बापू के पास जाऊंगी कुशीगंज, तुम मुझे साथ ले चलो न!"

उसने कहा, "कुशीगंज कहां है, मुझे नहीं मालूम।" इतना-सा जवाब देकर वह घाट पर पहुंचा, और घाट पर बंधी हुई डाक की नाव में बैठकर मल्लाह को जगाकर उसने नाव खुलवा दी। उस समय उसे किसीपर दया दिखाने या पूछताछ करने की फ़ुरसत नहीं थी।

देखते-देखते घाट और बाज़ार सजग हो उठे। मृण्मयी ने घाट पर जाकर एक मल्लाह से कहा, "मुझे कुशीगंज ले जाओगे?"

मल्लाह के उत्तर देने के पहले ही बगल की नाव पर से कोई बोल उठा, "अरे कौन है? मीनू बेटी, तू यहां कैसे आई?"

मृण्मयी अत्यन्त व्यग्रता के साथ बोल उठी, "बनमाली, मैं बापूजी

के पास कुशीगंज जाऊंगी, तू अपनी नाव पर मुझे ले चल।"

वनमाली उसके गांव का ही मल्लाह था, वह इस उच्छृंखल-प्रकृति बालिका को अच्छी तरह पहचानता था। उसने कहा, "बापू के पास जाएगी? बड़ी अच्छी बात है। चल, मैं तुझे पहुंचा दूं।"

मृण्मयी नाव पर जा बैठी।

मल्लाह ने नाव छोड़ दी। बादल घिर आए और मूसलधार वर्षा होने लगी। सावन-भादों की तरह भरपूर चढ़ी हुई नदी फूल-फूलकर नाव को ज़ोरों से हिलाने लगी। मृण्मयी का सारा शरीर थकावट और नींद के मारे टूटने-सा लगा, आंखों में नींद भर आई, वह आंचल बिछाकर पड़ रही। और पड़ते के साथ ही, वह चंचल अशान्त बालिका नदी के हिंडोले में प्रकृति के स्नेह से पले हुए शान्त शिशु की तरह बेखटके सो गई।

आंख खुली तो देखा कि अपनी ससुराल में खाट पर पड़ी सो रही है। उसे जगते देखकर महरी बड़बड़ाने लगी। महरी की आवाज़ सुनकर सास भी आ पहुंचीं और कड़ी-कड़ी बातें सुनाने लगीं। मृण्मयी आंखें फाड़-फाड़कर चुपचाप उनके मुंह की ओर देखती रही। अन्त में सास ने जब उसके बापू की 'शिक्षा' पर कटाक्ष करना शुरू किया तब मृण्मयी ने जल्दी से उठकर बगल की कोठरी में घुसकर भीतर से सांकल लगा ली।

अपूर्व ने हया-शरम को ताक़ पर रखकर मां से आकर कहा, "मां, बहू को दो-चार दिन के लिए एक बार मायके भेज देने में कोई हर्ज है?"

मां ने अपूर्व को ऐसा फटकारा कि जो 'न भूतो न भविष्यति।' दुनिया में इतनी लड़कियों के होते हुए न जाने कहां से छांट-छांटके ऐसी हाड़ जलानेवाली डाकू लड़की को घर में लाने की वेहूदगी पर अपूर्व को मां से काफी खरी-खोटी सुननी पड़ी।

उस दिन दिन-भर घर के बाहर आंधी-मेह और भीतर आंसुओं की वर्षा होती रही।

दुसरे दिन आधी रात को अपूर्व ने मृण्मयी को धीरे से जगाकर कहा, "मृण्मयी, तुम अपने बापूजी के पास जाओगी?"

मृण्मयी ने चौंककर जल्दी से अपूर्व का हाथ मसककर कृतज्ञ कण्ठ

से कहा, "जाऊंगी।"

अपूर्व ने चुपके से कहा, "तो चलो, हम दोनों चुपचाप भाग चलें। मैंने घाट पर एक नाव ठीक कर रखी है।"

मृण्मयी ने अत्यन्त कृतज्ञ दृष्टि से एक बार पति के मुंह की ओर देखा, और उसके बाद झटपट उठकर कपड़े बदलकर चलने के लिए तैयार हो गई। अपूर्व ने मां को किसी तरह की चिन्ता न हो, इसलिए एक पत्र लिखकर रख दिया, और दोनों निकल पड़े।

मृण्मयी ने उस अंधेरी रात में गांव के उस जनशून्य सुनसान, निर्जन रास्ते में यह पहली ही बार, अपने मन से, सारे अन्तःकरण से, पूरे विश्वास और निर्भरता के साथ अपने पति का हाथ पकड़ा, और उसके अपने हृदय का आनन्द-उद्वेग उस सुकोमल स्पर्श से उसके पति की नसों में भी संचारित होने लगा।

नाव उसी रात को चल दी। अशान्त हर्षोच्छ्वास के होते हुए भी मृण्मयी को बहुत जल्दी नींद आ गई।

दूसरे दिन कैसी मुक्ति थी, कैसा आनन्द था! दोनों ओर कितने बाज़ार, कितने खेत और जंगल दिखाई दे रहे हैं, इधर-उधर कितनी नावें जा-आ रही हैं। मृण्मयी छोटी-छोटी बात पर पति से तरह-तरह के सवाल करने लगी। 'उस नाव पर क्या है', 'ये लोग कहां से आ रहे हैं', 'इस जगह का क्या नाम है,' ऐसे-ऐसे सवाल कि जिनके समाधान आज तक उसे कभी किसी कालेज की किताब में नहीं मिले और जो उसके कलकत्ता के अनुभव के बाहर थे।

अपूर्व की मित्रमंडली यह सुनकर ज़रूर लज्जित होगी कि अपूर्व ने इन सब प्रश्नों का अलग-अलग उत्तर दिया था, और उसके अधिकांश उत्तर ऐसे थे कि जिनका सत्य के साथ कोई मेल नहीं था। मसलन तिल की नाव को तीसी की नाव, पांचवेड़ा को रायनगर और मुन्सिफ की अदालत को ज़मींदार की कचहरी बताने में उसे ज़रा भी संकोच नहीं हुआ; और सबसे बड़ी मज़े की बात यह कि इन सब भ्रमपूर्ण उत्तरों से विश्वस्तहृदय प्रश्नकारिणी के सन्तोष में तिल-भर भी बाधा न आई।

दूसरे दिन शाम को नाव कुशीगंज पहुंची।

टीन के झोंपड़े में एक मैली-कुचैली कांच की भद्दी लालटेन

जलाकर छोटे-से डेस्क पर एक चमड़े की जिल्दवाला बड़ा रजिस्टर रखकर, उघड़े बदन स्टूल पर बैठे हुए ईशानचन्द्र हिसाब लिख रहे थे। इसी समय इस नव दम्पति ने झोंपड़े के भीतर प्रवेश किया।

मृण्मयी ने पुकारा, "बापूजी !"

उस झोंपड़े में आज तक ऐसी कण्ठ-ध्वनि इस तरह इससे पहले और कभी भी नहीं सुनाई दी।

ईशान की आंख से टप-टप आंसू गिरने लगे। उस समय वे कुछ निश्चय न सके कि उन्हें क्या करना चाहिए। उसकी लड़की और दामाद मानो साम्राज्य के युवराज और युवराज्ञी हैं, यहां इन पटसन की गांठों की बीच में उनके बैठने लायक सिंहासन कहां, किस तरह बनाया जा सकता है, इसी बात का निर्णय करने में मानो उनकी भटकती हुई बुद्धि और भी भटक गई। और खाने पीने का इन्तज़ाम ?—यह भी एक चिन्ता की बात है। गरीब क्लर्क अपने हाथ से दाल-भात बनाकर किसी तरह पेट भर लेता है। किन्तु आज ऐसे आनन्द के दिन में, वह क्या करे, क्या खिलावे ?

मृण्मयी बोली, "बापूजी, अब हम सब मिलके रसोई बनाएंगे।"

अपूर्व ने इस प्रस्ताव पर अत्यन्त उत्साह प्रकट किया। उस छोटे-से झोंपड़े में जगह की कमी थी, आदमी की कमी थी, अन्न की कमी थी; किन्तु छोटे-से छेद में से जिस तरह फुहारा चौगुने वेग से छूटता है उसी तरह गरीबी के बारीक सूराख से आनन्द की धारा पूरी तेज़ी से बहने लगी।

इसी तरह तीन दिन बीत गए। दोनों वक्त नियमित रूप से जहाज़ आकर जेटी से लगता है, मुसाफिरों का आना-जाना और शोर-गुल सुनाई देता है। सन्ध्या के समय नदी-तट बिलकुल निर्जन हो जाता है। और तब एक तरह की अपूर्व, अबाध स्वाधीनता का अनुभव होता है। तीनों मिलकर तरह-तरह की तैयारियां करके, गलतियां करके, कुछ का कुछ और कहीं का कहीं करके रसोई बनाते। उसके बाद मृण्मयी के चूड़ियों-शुदा स्नेह-भरे हाथों से परोसा जाना, ससुर-जमाई का एकसाथ बैठकर खाना-पीना और गृहिणीपन की सैकड़ों त्रुटियां दिखलाते हुए मृण्मयी का हंसी उड़ाया जाना और उसपर बालिका का आनन्द-कलह और मौखिक अभिमान करना—इन सब बातों से सबका चित्त आनन्द से पुलकित हो उठा।

अन्त में अपूर्व ने कहा, "अब ज़्यादा दिन रहना ठीक नहीं।" इसपर मृण्मयी ने करुण-स्वर से और भी कुछ रोज़ ठहरने के लिए प्रार्थना की।

ईशान ने कहा, "नहीं, अब नहीं।"

विदा के दिन लड़की को छाती से लगाकर उसके माथे पर हाथ रखकर अश्रु-गद्‌गद कण्ठ से ईशानचन्द्र ने कहा, "बेटी, तू अपनी ससुराल में उजाला करना, लक्ष्मी बनकर रहना, अच्छा—जिससे मेरी मीनू में कोई कुछ दोष न निकाल सके।"

मृण्मयी रोते-रोते अपने पति के साथ विदा हो गई। और ईशान अपने उसी दूने निरान्दमय संकीर्ण टीन के झोंपड़े में, अपने उसी पुराने नियम के अनुसार माल तोलकर दिन पर दिन और महीने बिताने लगे।

दोनों अपराधियों की जुगल-जोड़ी जब घर लौटी, तो मां बहुत गम्भीर बनी रहीं, किसीसे कुछ बात ही नहीं की। मां की तरफ से किसीके व्यवहार पर ऐसा कोई दोषारोप ही नहीं किया गया कि जिसकी सफाई के लिए दोनों में से कोई कुछ कोशिश करता। इस नीरव अभियोग ने, इस निस्तब्ध अभिमान ने पहाड़ की तरह सारी घर-गृहस्थी को अटल होकर दबा रखा।

अन्त में जब असह्य हो उठा तो अपूर्व ने कहा, "मां कालेज खुल गया है। अब मुझे कानून पढ़ने जाना होगा।"

मां ने उदासीन भाव से कहा, "बहू का क्या करोगे?"

अपूर्व ने कहा, "यहीं रहने दो।"

मां ने कहा, "ना, बेटा, ज़रूरत नहीं। उसे तुम अपने साथ ही लेते जाओ।"

साधारणतः मां अपूर्व से 'तू' कहकर ही बोलती हैं।

अपूर्व ने अभिमान-व्यथित स्वर में कहा, "अच्छा।"

कलकत्ता जाने की तैयारियां होने लगीं। जाने के एक दिन पहले रात को अपूर्व जब अपने कमरे में सोने गया तो देखा कि मृण्मयी बिस्तर पर पड़ी रो रही है।

सहसा उसके हृदय को बड़ी चोट पहुंची। व्यथित स्वर में बोला, "मृण्मयी, मेरे साथ कलकत्ता जाने को तुम्हारा जी नहीं चाहता?"

मृण्मयी ने कहा, "नहीं।"

अपूर्व ने पूछा, "तुम मुझसे प्रेम नहीं करतीं ?"

इस प्रश्न का कुछ जवाब न मिला। आम तौर पर इस तरह के सवाल का जवाब बहुत ही आसान हुआ करता है, किन्तु कभी-कभी इसमें मनस्तत्त्व की इतनी जटिलता भरी रहती है कि बालिका से ठीक वैसे जवाब की उम्मीद नहीं की जा सकती। अपूर्व ने कहा, "राखाल को छोड़कर यहां से जाने में तुम्हारा जी नहीं चाहता, क्यों ?"

मृण्मयी ने बड़ी आसानी से जवाब दिया, "हां।"

बालक राखाल के प्रति इस बी० ए० पास कृतविद्य युवक के हृदय में सुई के बराबर बहुत ही बारीक किन्तु अत्यन्त लम्बी ईर्ष्या का उदय हुआ। बोला, "मैं बहुत दिनों तक घर नहीं लौट सकूंगा।" इस संवाद के विषय से मृण्मयी को अपनी तरफ से कुछ नहीं कहना था। अपूर्व फिर बोला, "शायद दो-ढाई साल या उससे भी ज़्यादा दिन लग सकते हैं।"

मृण्मयी ने आदेश दिया, "वापस आते वक्त तुम राखाल के लिए एक तीन फलवाला राजस का चाकू लेते आना।"

अपूर्व लेटा हुआ था, ज़रा उठकर बोला, "तो तुम यहीं रहोगी ?"

मृण्मयी ने कहा, " हां। मैं अपनी मां के पास जाकर रहूंगी।"

अपूर्व ने एक हल्की-सी उसांस लेकर कहा, "अच्छी बात है, वहीं रहना। सुनो, जब तक तुम खुद मुझे आने के लिए चिट्ठी न लिखोगी तब तक मैं नहीं आऊंगा।—अब तो खूब खुश हुईं न ?"

मृण्मयी इस सवाल का जवाब देना फजूल समझकर सोने लगी। किन्तु अपूर्व को नींद नहीं आई, वह तकिया ऊंचा करके उसके सहारे बैठा रहा।

बहुत रात बीते सहसा आकाश में चांद दिखाई दिया और उसकी चांदनी बिस्तर पर आकर फैल गई। अपूर्व उस उजाले में मृण्मयी के चेहरे की ओर देखने लगा। देखते-देखते उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे रूपकथा की राजकुमारी को कोई चांदी की छड़ी छुआकर अचेत कर गया हो। एक बार सिर्फ सोने की छड़ी छुआते ही इस सोती हुई आत्मा को जगाकर उससे माला बदली जा सकती है। चांदी की छड़ी हंसी है और सोने की छड़ी आंसू।

तड़के ही अपूर्व ने मृण्मयी को जगा दिया। बोला, "मृण्मयी, मेरे जाने का समय हो गया। चलो, मैं तुम्हें तुम्हारी मां के यहां पहुंचा आऊं।"

मृण्मयी बिस्तर से उठकर चलने के लिए खड़ी हो गई। अपूर्व ने उसके दोनों हाथ थामकर कहा, "अब एक प्रार्थना और है तुमसे। मैंने कितने ही मौकों पर तुम्हें मदद पहुंचाई है, आज परदेश जाते समय तुम मुझे उसका कुछ इनाम दोगी ?"

मृण्मयी ने आश्चर्य के साथ पूछा, "क्या ?"

अपूर्व ने कहा, "तुम मुझे अपनी तबीयत से, प्यार से, मुझे एक प्यार दो।"

अपूर्व की इस अजीब प्रार्थना और गम्भीर चेहरे को देखकर मृण्मयी हंसने लग गई, और फिर मुश्किल से उस हंसी को रोककर चुम्बन देने को आगे बढ़ी। अपूर्व के मुंह के पास मुंह ले जाकर उससे न रहा गया, खिलखिलाकर हंस पड़ी। इस तरह दो बार किया और अंत में स्थिर होकर आंचल से मुंह ढककर हंसने लगी। अपूर्व से और कुछ न बन पड़ा तो उसने डाटने के बहाने उसके बाएं कान की लोलकी पकड़कर हिला दी।

अपूर्व ने अपने मन में एक बड़ी कड़ी प्रतिज्ञा कर रखी थी, और वह यह कि डाका डालकर या लूट-खसोटकर वह कुछ नहीं लेना चाहेगा। इसमें वह अपना अपमान समझता है। वह चाहता है कि देवता के समान सगौरव रहकर स्वेच्छा से भेंट किए हुए उपहार को ग्रहण करे, अपने हाथ से उठाकर कुछ भी न ले।

मृण्मयी फिर नहीं हंसी। अपूर्व उसे प्रभात के सुनहले प्रकाश में निर्जन मार्ग से उसकी मां के घर पहुंचा आया। और फिर घर आकर अपनी मां से बोला, "मां, मैंने खूब सोच-विचारकर देखा कि बहू को अपने साथ कलकत्ता ले जाने से पढ़ाई में बड़ा हर्ज होगा। और वहां उसकी कोई साथिन भी नहीं है। तुम तो उसे अपने पास रखना नहीं चाहतीं, इसलिए मैं उसे मायके पहुंचा आया हूं।" इस तरह गहरे अभिमान में ही माता-पुत्र का विच्छेद हुआ।

मायके आकर मृण्मयी को मालूम हुआ कि अब वहां उसका किसी तरह मन ही नहीं लगता। उस घर में मानो शुरू से आखिर तक सब कुछ बदल गया है, पहले का सा कुछ भी नहीं रहा। समय काटे नहीं कटता। वह क्या करे, कहां जाए, किससे मिले—उसकी कुछ समझ में नहीं आता।

मृण्मयी को सहसा ऐसा लगा कि मानो घर-भर में, और सारे गांव में, कोई आदमी ही नहीं है, मानो दोपहर को सूर्यग्रहण हुआ है। यह बात किसी भी तरह उसकी समझ में ही नहीं आई कि आज जो कलकत्ता जाने के लिए उसकी तबीयत इतनी फड़फड़ा रही है, कल रात को उसकी वह तबीयत कहां चली गई थी? कल वह नहीं जानती थी कि जीवन के जिस हिस्से को छोड़कर कलकत्ता जाने में उसका जी इतना आगा-पीछा कर रहा है आज उसका सारा स्वाद ही बदल जाएगा। पेड़ के पत्ते की तरह डण्ठल से गिरे हुए उस अतीत जीवन को आज उसने अपनी इच्छा से अनायास ही दूर फेंक दिया।

पुरानी कहानियों में सुना करते हैं कि पहले निपुण अस्त्रकार ऐसी बारीक तलवार बना सकते थे कि जिससे आदमी को काटकर दो टुकड़े कर देने पर भी उसे मालूम नहीं पड़ता था और जब उसे हिलाया जाता तो उसके दो टुकड़े हो जाते थे। विधाता की तलवार ऐसी ही सूक्ष्म है कि कब उन्होंने मृण्मयी के बाल्य और यौवन के बीच में वार किया, वह जान ही न सकी, और आज न जाने कैसे ज़रा हिल जाने से उसका बाल्य अंश यौवन से अलग जा गिरा, और तब वह आश्चर्य में आकर व्यथित होकर देखती ही रह गई।

मायके में उसकी पहले की वह पुरानी कोठरी उसे अपनी नहीं मालूम हुई। जो मृण्मयी वहां रहती थी, अब मालूम हुआ कि वहां वह नहीं रही। अब हृदय की सारी स्मृति एक दूसरे ही घर में, दूसरे ही कमरे में, दूसरी ही शैया के आसपास गूंजती हुई उड़ने लगी। मृण्मयी अब बाहर नहीं दिखाई देती। अब उसकी हास्यध्वनि भी नहीं सुन पड़ती। राखाल उसे देखकर डर जाता है। खेल-कूद की बात तो अब उसके मन में भी नहीं आती।

मृण्मयी ने अपनी मां से कहा, "मां, मुझे ससुराल ले चल।"

उधर, कलकत्ता जाते समय पुत्र के उस उदास चेहरे की याद कर-करके मां की छाती फटी जा रही थी। गुस्से में आकर बहू को वह समधिन के घर छोड़ आया, यह बात उनके मन में सुई की तरह चुभने लगी।

इतने में, एक दिन घूंघट मारकर बहू बनकर मृण्मयी आ पहुंची—चेहरा उसका मुरझा-सा गया था—और उसने सास के पांव लागे। सास की आंखों में आंसू भर आए और उसी क्षण बहू को उन्होंने छाती

से लगा लिया।

क्षण में दोनों का मिलाप हो गया। बहू का चेहरा देखकर सास को बड़ा आश्चर्य हुआ, अब वह मृण्मयी रही ही नहीं! ऐसा परिवर्तन तो साधारणतः सबके लिए सम्भव नहीं होता। बड़े परिवर्तन के लिए बड़े बल की ज़रूरत होती है। सास ने खूब सोच-विचार के बाद यह तय किया था कि बहू के दोष वे एक-एक करके सब सुधार लेंगी, किन्तु यहां तो पहले ही से किसी अदृश्य सुधारक ने संक्षिप्त उपाय से मानो उसे नया ही जन्म दे दिया।

अब बहू ने सास को पहचान लिया और सास ने बहू को। वृक्ष के साथ शाखा-प्रशाखाओं का जैसा मेल होता है उसी तरह सारी घर-गृहस्थी मानो आपस में मिलकर अखण्ड एक हो गई।

यह जो एक गम्भीर-स्निग्ध विशाल रमणी-प्रकृति मृण्मयी के सारे शरीर में, सम्पूर्ण अन्तःकरण में, अणु-अणु में व्याप्त हो गई है, वह मानो उसे वेदना देने लगी। प्रथम आषाढ़ के श्याम और सजल नये बादलों की तरह उसके हृदय में एक तरह का आंसुओं से परिपूर्ण और दूर तक फैला हुआ अभिमान उमड़ने लगा। उस अभिमान ने उसकी आंखों की छायादार लम्बी पलकों पर और भी एक गहरी छाया डाल दी। वह मन ही मन पति से कहने लगी, 'मैं अपने को न समझ सकी तो न सही, पर तुमने मुझे क्यों नहीं समझा? तुमने मुझे सज़ा क्यों नहीं दी? तुमने मुझे अपनी इच्छा के अनुसार क्यों नहीं चलाया? मुझ डाइन ने जब तुम्हारे साथ कलकत्ता चलने की मनाही कर दी तो तुम मुझे ज़बरदस्ती पकड़कर क्यों नहीं ले गए? तुमने मेरी बात क्यों सुनी, मेरी ज़िद क्यों पूरी की, मेरे हठ को क्यों सहा?'

उसके बाद, फिर उसे उस दिन की याद उठ आई, पहले-पहल जिस दिन अपूर्व सवेरे तालाब के किनारे सुनसान रास्ते में उसे कैद करके, मुंह से कुछ न कहकर सिर्फ उसके चेहरे की तरफ देर तक देखता रहा था। उस दिन के उस तालाब की, उस रास्ते की, पेड़ के नीचे उस छाया की, सवेरे की उस सुनहरी धूप की, हृदय-भार से झुकी हुई उस गहरी चितवन की उसे याद उठ आई, और सहसा उसका पूरा-पूरा अर्थ उसकी समझ में आ गया। उसके बाद, विदा के दिन जिस चुम्बन को वह अपूर्व के होंठों तक ले जाकर लौटा लाई थी वह अधूरा चुम्बन अब मरु-मरीचिका की ओर प्यासे हरिण की तरह उत्तरोत्तर तेज़ी के

साथ उस बीते हुए अवसर की ओर उड़ान भरने लगा, परन्तु प्यास उसकी किसी भी तरह नहीं मिटी। अब रह-रहकर उसके मन में यही बातें आती हैं, अरे, उस समय अगर ऐसा करती, उनकी बात का अगर ऐसा जवाब देती, तब अगर ऐसा करती इत्यदि।

अपूर्व के मन में इस बात का बड़ा खेद रहा कि मृण्मयी ने उसे अच्छी तरह पहचाना नहीं, और मृण्मयी भी आज बैठी-बैठी सोच रही है कि उन्होंने उसे क्या समझा होगा, क्या सोचते होंगे वे ! अपूर्व ने उसे 'उद्दण्ड चपल मूर्ख अविवेकी लड़की' समझ लिया, लबालब भरे हुए हृदयामृत की धारा से अपनी प्रेम-पिपासा मिटाने में उसे समर्थ तरुणी नहीं समझा, इस पश्चात्ताप से, धिक्कार से मारे शरम के वह धरती में गड़-गड़ जाने लगी, और प्रियतम के चुम्बन और लाड़-सुहाग के उन ऋणों को वह पति के तकिए को दे-देकर उऋण होने की कोशिश करने लगी। इस तरह बहुत दिन बीत गए।

अपूर्व जाते वक्त कह गया था, 'जब तक तुम खुद चिट्ठी नहीं लिखोगी तब तक मैं नहीं आऊंगा।' मृण्मयी उसी बात की याद करके एक दिन घर का दरवाज़ा बन्द करके चिट्ठी लिखने बैठी। अपूर्व ने उसे जो सुनहरी किनारी के रंगीन कागज़ दिए थे उन्हें निकालकर वह बैठी-बैठी सोचने लगी, क्या लिखे ? बड़ी सावधानी से अच्छी तरह हाथ जमाकर टेढ़ी-मेढ़ी लकीर बनाकर उंगलियों में स्याही पोतकर छोटे-बड़े अक्षरों में, ऊपर कुछ सम्बोधन बिना किए ही, एकदम लिख दिया, "तुम मुझे चिट्ठी क्यों नहीं देते ? तुम कैसे हो ! तुम जल्दी घर आओ।" और क्या लिखे, सोचकर कुछ तय न कर सकी। असल बात जो थी सो सब लिखी जा चुकी। किन्तु मनुष्य समाज में मन भाव और ज़रा कुछ बढ़ाकर प्रकट कया जाना चाहिए। मृण्मयी को भी यह कमी भी खटकी। इसलिए उसने और भी बहुत देर तक सोच-सोचकर और कुछ नये शब्द जोड़ दिए, "अब तुम मुझे चिट्ठी देना और कैसे रहते हो सो लिखना, और घर आना, मां अच्छी तरह हैं, बिसू, पुत्ती सब अच्छी तरह हैं, और कल हमारी काली गाय के बछड़ा हुआ है।"

इतना लिखकर चिट्ठी खतम कर दी। चिट्ठी को लिफाफे में बन्द करके प्रत्येक अक्षर पर एक-एक बूंद हृदय का प्रेम उंड़ेलते हुए उसपर लिख दिया, श्रीयुत बाबू अपूर्वकुमार राय। प्रेम चाहे जितना उंड़ेला गया हो, किन्तु फिर भी सतर सीधी, अक्षर सुन्दर और हिज्जे सही

नहीं हुए। लिफाफे पर नाम के सिवा और भी कुछ लिखना ज़रूरी है, मृण्मयी इस बात से वाकिफ नहीं थी। कहीं सास या और कोई देख न ले, इस डर से उस चिट्ठी को उसने एक विश्वस्त दासी के हाथ डाक में डलवा दिया। कहने की ज़रूरत नहीं कि उस चिट्ठी का कुछ नतीजा नहीं निकला, अपूर्व घर नहीं आया।

मां ने देखा कि कालेज की छुट्टियां हो गईं, फिर भी अपूर्व घर नहीं आया। सोचा, अब भी वह उनसे गुस्सा है। मृण्मयी ने समझ लिया कि पति उससे नाराज़ हैं; और तब वह अपनी चिट्ठी की याद करके मारे शरम के गड़-गड़ जाने लगी। वह चिट्ठी उसकी तुच्छ थी, उसमें तो कोई बात ही नहीं लिखी गई, उसके मन का भाव तो उसमें कुछ ज़ाहिर ही नहीं हुआ। उसे पढ़कर वे उसे मन ही मन और भी अवज्ञा करते होंगे, यह सोच-सोचकर वह तीर-बिंधे शिकार की तरह भीतर ही भीतर तड़पने लगी।

दासी को उसने बार-बार पूछा, "उस चिट्ठी को तू डाक में डाल आई थी?"

दासी ने उसे बार-बार विश्वास दिलाकर कहा, "हां, बहूजी! मैं अपने हाथ से चिट्ठी के बक्स में डाल आई हूं। बाबूजी को वह मिल गई होगी।"

अन्त में अपूर्व की मां ने एक दिन मृण्मयी को बुलाकर कहा, "बहू, अपूर्व बहुत दिनों से घर नहीं आया, मन चाहता है कलकत्ता जाकर उसे देख आऊं। तुम साथ चलोगी?"

मृण्मयी ने सम्मति-सूचक सिर हिला दिया और फिर अपने कमरे में जाकर दरवाज़ा बन्द करके, बिस्तर पर पड़कर, तकिये को छाती से लगाकर, हंसकर, इधर से उधर करवट लेकर, हृदय के आवेग को मनमानी छुट्टी देकर हलकी होने लगी। उसके बाद क्रमशः गम्भीर बनकर, उदास होकर, आशंका में डूबकर बैठी-बैठी रोने लगी।

अपूर्व को कोई खबर बिना दिए ही दोनों अनुतप्त स्त्रियां उसकी प्रसन्नता की भीख मांगने के लिए कलकत्ता चल दीं।

अपूर्व की मां कलकत्ता में अपने दमाद के यहां ठहरीं।

उस दिन शाम को मृण्मयी के पत्र की आशा छोड़कर निराश होकर अपूर्व प्रतिज्ञा भंग करके खुद ही उसे चिट्ठी लिखने बैठा था

कोई भी शब्द मन को पसन्द नहीं आ रहा था। वह ऐसा कोई सम्बोधन ढूंढ़ रहा था कि जिसमें पूर्ण प्रेम भी प्रकट हो और अभिमान भी, शब्द ढूंढ़े न मिला तो मातृभाषा पर उसकी अश्रद्धा बढ़ने लगी। इतने में उसे बहनोई का पत्र मिला कि 'तुम्हारी मां आई हैं—जल्दी आकर मिलो, और शाम को यहीं ब्यालू करना। घर के समाचार सब अच्छे हैं।' समाचार अच्छे होने पर भी उसका मन अमंगल की आशंका से विमर्ष हो उठा। और झटपट उठकर वह बहनोई के घर चल दिया।

भेंट होते ही मां से उसने पूछा, "मां, घर में सब राज़ी-खुशी है न?"

मां ने कहा, "हां सब खुशी-राज़ी है, बेटा। छुट्टियों में तू घर नहीं गया इसीसे मैं तुझे लेने आई हूं।"

अपूर्व ने कहा, "इसके लिए तुम्हें इतनी तकलीफ उठाकर यहां आने की क्या ज़रूरत थी! मुझे कानून की परीक्षा देनी थी···"

खाते वक्त बहन ने पूछा, भैया, आते वक्त भाभी को तुम साथ क्यों नहीं लेते आए? छोड़ क्यों आए थे?"

भैया ने गम्भीरता के साथ कहा, "कानून की पढ़ाई थी···"

बहनोई ने हंसकर कहा, "यह सब फालतू बात है—असल में हमारे डर से लाने की हिम्मत नहीं पड़ी!"

बहन बोली, "हो भी तो डरावने आदमी! छोटे बच्चे कहीं अचानक देख लेते हैं तो मारे डरके उन्हें बुखार आ जाता है।"

इस तरह हंसी-मज़ाक चलने लगा, परन्तु अपूर्व बिलकुल उदास ही बना रहा। कोई भी बात उसे अच्छी नहीं लग रही थी। वह सोच रहा था कि 'मां जब कलकत्ता आईं, तो मृण्मयी चाहती तो मां के साथ आसानी से आ सकती थी। शायद मां ने उसे साथ लाने की कोशिश भी की होगी, किन्तु वह अल्हड़ लड़की राज़ी नहीं हुई होगी।' और इस विषय में संकोच के कारण मां से वह कुछ पूछ भी न सका। सारा मानव-जीवन और विश्व की रचना उसे शुरू से आखिर तक व्यर्थ मालूम होने लगी।

भोजन करने के बाद बड़े ज़ोर की आंधी आई, घनघोर वर्षा होने लगी।

बहन ने कहा, "भैया, आज यहीं रह जाओ।"

भैया ने कहा, "नहीं, मुझे काम है, जाना होगा।"

बहनोई ने कहा, "रात को तुम्हें ऐसा क्या काम है ? एक रात के लिए यहां रह ही गए तो क्या।—तुम्हें तो किसीको जाकर कैफियत नहीं देनी। फिर फिक्र किस बात की ?"

बहुत कहने-सुनने के बाद, बिलकुल तबीयत न होने पर भी अपूर्व रात को वहीं सोने के लिए राज़ी हो गया। बहन ने कहा, "भैया, तुम थके हुए मालूम होते हो—अब जागो मत। चलो—सोओ जाकर।"

अपूर्व की भी यही इच्छा थी कि बिस्तर पर अंधेरे में अकेला जाकर सो रहे तो उसकी जान बचे। बात का जवाब देना भी उसे अखरता था।

सोने के लिए उसे जिस कमरे के द्वार तक पहुंचाया गया वहां जाकर उसने देखा कि भीतर अंधेरा है।

बहन ने कहा, "हवा से बत्ती बुझ गई मालूम होती है—दूसरी बत्ती लिए आती हूं।" अपूर्व ने कहा, "नहीं, ज़रूरत नहीं। बत्ती जलाकर सोने की मेरी आदत नहीं।"

बहन के चले जाने पर अपूर्व अंधेरे कमरे में सावधानी के साथ पलंग की ओर बढ़ा।

पलंग पर बैठना ही चाहता था कि इतने में सहसा चूड़ियों के खनकने की आवाज़ हुई, और एक सुकोमल बाहुपाश ने उसे कठिन बन्धन में बांध लिया। और फिर फूल-से कोमल व्याकुल होंठों ने डाकू की तरह आकर अविरल अश्रुधारा से भीगे हुए आवेगपूर्ण चुम्बनों के मारे उसे आश्चर्य प्रकट करने तक का मौका नहीं दिया। अपूर्व पहले तो चौंक पड़ा, उसके बाद उसकी समझ में आया कि बहुत दिनों पहले जो काम सिर्फ हंस देने के कारण ही अधूरा रह गया था उसे आंसुओं की धारा ने आज समाप्त कर दिया।

[मूल रचना : अगहन, १९५०]

मुद्रक : कुकरेजा प्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१

[illegible]

[illegible]

[illegible]

हिन्द
पॉकेट
बुक्स

भारत की सर्वप्रथम
पॉकेट बुक्स